Shri Dhishagita Bhashanuvada Hindi Translation

# श्री धीशगीता भाषानुवाद

## Document Information

Text title : shrIdhIshagItA Hindi translation

File name : shrIdhIshagItAHindi.itx

Category : giitaa, gItA, ganesha, upanishhat, hindi

Location : doc_giitaa

Proofread by : Paresh Panditrao

Description/comments : See the original Shri Dhishagita text/mUla

Acknowledge-Permission: Shri Bharat Dharma Mahamandal Varanasi

Latest update : November 29, 2022

Send corrections to : sanskrit@cheerful.com

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

**Please help to maintain respect for volunteer spirit.**

Please note that proofreading is done using Devanagari version and other language/scripts are generated using **sanscript**.

December 3, 2022

*sanskritdocuments.org*

# श्री धीशगीता भाषानुवाद

॥ ॐ तत्सत् ॥

श्री धीशगीता भाषानुवाद ।

श्रीभारतधर्म महामंडल के शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित
काशी ।
संवत् २०४६
मूल्य ८ रुपया

प्रकाशक :–
श्रीभारतधर्म महामंडल,
लहुराबीर, वाराणसी - २२१००१

संवत् २०४६
मकर संक्रांति सन् १९९०

## भूमिका

श्रीभारतधर्म महामंडल प्रधान कार्यालय काशी धाम के शास्त्रप्रकाश विभागद्वारा, अब तक अप्रकाशित पांच गीताओं का, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन होकर, हिन्दी साहित्य भंडार और साथ ही साथ, सनातन धर्म ग्रंथ-भंडार की श्री-वृद्धि हुई है । इससे पहले, सब प्रकार के गुरुभक्तों के लिए श्री गुरुगीता, सब प्रकार के संन्यासी और साधु-संप्रदायों के लिए श्री संन्यासगीता, सौर्य संप्रदाय के लिए श्री सूर्यगीता, वैष्णव संप्रदाय के लिए श्री विष्णुगीता, शाक्त संप्रदाय के लिए श्री शक्तिगीता, गणपति संप्रदाय के लिए श्री धीशगीता, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित की गई है । इसका द्वितीय संस्करण आपकी सेवा में प्रस्तुत है । सर्वव्यापक, सर्वजीवहितकारी और पृथ्वी के सब धर्मों के पितारूप, सनातन धर्म में, निर्गुण और सगुण, उपासनारूप से प्रधान, दो भेद हैं । यद्यपि लीलाविग्रह, अर्थात् अवतार उपासना, ऋषि देवता, पितृ-उपासना और क्षुद्र तामसिक शक्तियों की उपासनारूप से सनातन धर्म में सब अधिकार के उपासकवृन्दों के लिए और भी कई

उपासनाशैलियों का विस्तृत वर्णन पाया जाता है, परंतु लीलाविग्रह उपासना, अर्थात् अवतार उपासना तो पंच सगुण उपासना के अंतर्गत ही है ।

श्री विष्णु भगवान्, श्री सूर्य भगवान्, श्री भगवती देवी, श्री गणेश भगवान् और श्री सदाशिव भगवान् इन पंच सगुण उपास्य देवताओं में से सब के ही अवतारों का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है; क्योंकि सगुण उपासना की पूर्णता का, लीलामय स्वरूप के बिना, उपासक अनुभव नहीं कर सकता । अस्तु ! लीलाविग्रह की उपासना सगुण उपासना की पूर्णता के लिए ही होती है तथा ऋषिदेव, पितृ-उपासना और अन्य क्षुद्र उपासना का अधिकार सकाम राज्य से ही संबंध रखता है । निर्गुण उपासना में, सर्वसाधारण का अधिकार हो ही नहीं सकता । निर्गुण उपासना अरूप, भावातीत, वाक्, मन और बुद्धि से अगोचर आत्मस्वरूप की उपासना है । निर्गुण उपासना केवल आत्मज्ञान-प्राप्त, तत्त्वज्ञानी महापुरुषों, तथा जीवन्-मुक्त संन्यासियों के लिए ही उपयोगी समझी जा सकती है, और केवल सगुण उपासना ही सब श्रेणी के उत्तम उपासक-वृन्दों के लिए हितकारी समझकर पूज्यपाद महर्षियों ने उसके सिद्धांतों का अधिक प्रचार शास्त्रों में किया है ।

सृष्टि के स्वाभाविक पंच-तत्वों के अनुसार पंच विभागों पर संयम करके, पंच उपासक संप्रदायों के भेद की कल्पना करते हुए, पूर्वाचार्यों ने पंच सगुण उपासना-प्रणाली प्रचलित की है । विष्णु उपासकों के लिए वैष्णव संप्रदाय-प्रणाली, सूर्य उपासकों के लिए सौर्य संप्रदाय-प्रणाली, शक्ति उपासकों के लिए शक्ति संप्रदाय-प्रणाली, गणपति उपासकों के लिए गाणपत्य संप्रदाय-प्रणाली और शिव उपासकों के लिए शैव संप्रदाय-प्रणाली, विस्तारित रूप से नाना शास्त्रों में उन्होंने वर्णन की है । प्रत्येक उपासक-संप्रदाय के उपयोगी, अनेक आर्षसंहिताएँ और अनेक तंत्र ग्रंथ आदि पाये जाते हैं, यहाँ तक कि प्रत्येक संप्रदाय के उपयोगी उपनिषद् भी प्राप्त होते हैं । उसी शैली के अनुसार प्रत्येक संप्रदाय के उपासक के लिए अपने-अपने संप्रदाय के पंचांग ग्रंथ हैं । अपने-अपने संप्रदाय के पंचांग ग्रंथों में से अपने-अपने संप्रदाय का गीताग्रंथ सबसे प्रधान माना गया है । विष्णु संप्रदाय की श्री विष्णुगीता, सूर्य संप्रदाय की श्री सूर्यगीता, देवी संप्रदाय की श्री शक्तिगीता, गणपति संप्रदाय की श्री धीशगीता और शिव संप्रदाय की श्री शंभुगीता, ये पांचों ग्रंथ अति अपूर्व उपनिषद् रूपी हैं । इन पांचों ग्रंथरत्नों का प्रकाशन अभी तक ठीक ठीक नहीं हुआ था ।

यदि देवीगीता, शिवगीता और गणेशगीता नाम से कुछ ग्रंथ प्रकाशित भी हुए हैं, तो वे असंपूर्ण दशा में प्रकाशित हुए हैं । श्री भारतधर्म महामंडल के शास्त्रप्रकाश विभाग तथा अनुसंधान विभाग द्वारा पांचों ग्रंथरत्न अपने संपूर्ण आकार में प्राप्त हुए हैं । उन्हीं पांचों में से यह चौथी गीता अब प्रकाशित हो रही है । पांचवी शंभुगीता भी इसी प्रकार प्रकाशित हुई है । ये पांचों गीताएँ वेदविज्ञान, सनातन धर्म के अपूर्व रहस्य, गंभीर अध्यात्म तत्त्व और पूज्यपाद महर्षियों के ज्ञान गरिमा के सिद्धांतों से परिपूर्ण हैं । इन पांचों के पाठ करने से, पाठक बहुत कुछ ज्ञान लाभ

कर सकते हैं । निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी उपासना का रहस्य, सगुण उपासना का महत्व और विज्ञान, वेद के कर्मकांड, उपासनाकांड और ज्ञानकांड का मर्म, सनातन धर्म के सभी गंभीर सिद्धांतों का निर्णय, अध्यात्म-तत्त्व, अधिदैव-तत्त्व और अधिभूत तत्त्व, यहाँ तक कि वेद का सार, सब कुछ इन पंच गीताओं में प्राप्त होता है ।

ज्ञानकांड का विघ्न जिस प्रकार अहंकार है, उपासनाकांड का विघ्न जिस प्रकार साम्प्रादायिक विरोध है, उसी प्रकार कर्मकांड का विघ्न दंभ है । कर्मकांडी इनका पाठ करने से अपने दंभ को भूलकर, भक्त बन जाएंगे; उपासक-गण अपने क्षुद्राशय और साम्प्रदायिक विरोध को भूलकर उदार और पराभक्ति के अधिकारी बन सकेंगे और तत्त्वज्ञानी के लिए तो ये पांचों ग्रंथ उपनिषदों के सार रूप हैं । गृहस्थों के लिए ये पांच गीताएँ परम मंगलकर और सन्यासियों के अध्यात्म-पथ-प्रदर्शक हैं !

श्रीकाशीधाम
मकरसंक्रान्ति संवत् २०४६ विक्रम

व्रजमोहन दीक्षित
अध्यक्ष - श्रीभारतधर्म महामंडल, लहुराबीर, वाराणसी

## विषयानुक्रणमणिका ।

विषय
प्रथम अध्याय – स्वस्वरूपभावनिरूपण
सूतजी की प्रार्थना, व्यासजी की आज्ञा, ऋषियों की जिज्ञासा,
श्री गणपति की आज्ञा इत्यादि ।

द्वितीय अध्याय – सिद्धिस्वरूपवर्णन
ऋषियों को सिद्धि के स्वरूप रहस्य की जिज्ञासा,
श्री गणपति की भगवत्सेवा में सदा रत रहने की आज्ञा ।

तृतीय अध्याय – ज्ञानभूमिनिरूपण
ऋषियों के द्वारा परा सिद्धि के दर्शन के उपायों की जिज्ञासा ।
श्री गणपति की आज्ञा – दिव्यदृष्टि से ज्ञानभूमियों में परासिद्धि का
उत्तरोत्तर स्पष्ट दर्शन होना आदि ।

चतुर्थ अध्याय – धर्मविज्ञाननिरूपण
ऋषियों को अज्ञानभूमियों के प्रभाव से बचाकर मुमुक्षु को

ज्ञानभूमियों में पहुँचाने के उपायों की जिज्ञासा । श्री गणपति की आज्ञा, धर्म का महत्त्व-वर्णन । धर्म के साधारण और विशेष भेद, साधारण धर्म के चौबीस तत्त्वों के अनुरूप चौबीस भेद ।

पंचम अध्याय – वेदांतनिरूपण
ऋषियों की वेदांत-विषयक जिज्ञासा । श्री गणपति की आज्ञा, श्रवण मनन और निदिध्यासन की उपयोगिता, स्वभावजनित सहजकर्म और अविद्या के प्रभाव से जीवत्वका आविर्भाव ।

षष्ठ अध्याय – वेदांतनिरूपण
श्री गणपति की आज्ञा - सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि होने से मुक्ति, अविद्या और माया उपाधि की भ्रान्ति दूर होने से ब्रह्मरूप का दर्शन और उससे मुक्ति ।

सप्तम अध्याय – विराड्रूपवर्णन
ऋषियों के द्वारा विराड्रूप का वर्णन । व्यास की आज्ञा । श्री गणपति की आज्ञा ।

# श्रीधीशगीता - भाषानुवाद ।

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

## १. स्वस्वरूपभावनिरूपणम्

सूतजी बोले ॥ १ ॥

हे वेदांत के तत्त्व जाननेवाले गुरो ! वेदार्थप्रतिपादक अनेक पुराण आपने कृपापूर्वक मुझे सुनाये हैं ॥ २ ॥ और हे देव ! उपनिषत्सारारूप अनेक गीताएँ भी कही हैं, जिससे मैं निसंदेह कृतकृत्य होगया हूँ ॥ ३ ॥ पूर्व कथाप्रसंग में मैंने आपसे सुना है कि जगज्जन्मादिकारण, जगत्कर्त्ता, जगद्धाता, जगद्बंधौ, जगत्पिता, जगतत्पालक, श्रीभगवान्, बुद्धि के परे स्थित हैं और वे शरणागत-वत्सल कृपावश बुद्धि में अधिष्ठान करके जीवों को मुक्ति प्रदान करते हैं । इस कारण उनको सब वेदोंने धीश कहा हैं ॥ ४ - ६ ॥ हे नाथ ! मैंने आपके मुखकमल से यह भी सुना है कि पुरा-काल में, महर्षिगण ने दिव्य धीशलोक में उपस्थित होकर श्री गणपतिदेव से मुक्तिप्रद, उपनिषत्-सारारूप, हित और शुभ अनेक उपदेशों को श्रवण किया था ॥ ७ - ८ ॥

अतः मेरे ऊपर जो आपकी अपार कृपाराशि है, हे कृपासागर, आप उससे मुझे धीश और महर्षि-संवादरूप ज्ञान और मुक्ति देनेवाली श्रवणीय, अमृतरूप, पवित्र, दिव्य, धीशगीता को सुनाकर कृतकृत्य कीजिये ॥ ९ - १० ॥ हे प्रभो ! पुराकाल में महर्षिगण किस कारण से धीशलोक में पहुँचे थे और वह धीशलोक कहाँ पर है, वहाँ किस प्रकार से जाना होता है और वहाँ गणपति देव ने किन अध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन किया था, उन सबको विस्तारपूर्वक सुनाकर मुझे कृतार्थ करें ॥ ११ - १२ ॥ जिससे मैं उन वेद-रहस्यों को मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए जगत् में बारम्बार प्रचारित करके निश्चय ही स्वयं धन्य होऊँ ॥ १३ ॥

व्यासजी बोले ॥ १४ ॥

हे सूत ! तुम्हारी गुरु-भक्ति, जन्मसिद्ध धर्म-जिज्ञासा-प्रवृत्ति, और जगत्कल्याण में तत्पर सद्बुद्धि से, एवं सौम्य स्वभाव से, मैं अति-प्रसन्न हूँ । इसी कारण, हे तात, तुम जो जिज्ञासा करते हो और तुम जो शंका करते हो उसका समाधान करने से मैं अत्यंत आनंदित होता हूँ; क्योंकि तुम मेरे प्रिय शिष्य और अतिकृपापात्र हो ॥ १५ - १७ ॥ जिज्ञासु प्राणियों को निरंतर उपदेश प्रदान करना, मुमुक्षु-साधकों को तत्त्वज्ञानोपदेश करना, और ज्ञानमय वेदों का जगत् में प्रचार एवं उनका प्रकाश करना मेरे जीवन का व्रत है ॥ १८ - १९ ॥ हे सूत ! पुण्य वर्द्धक भगवत् महिमा प्रचार में मेरी स्वाभाविक रुचि है और जगत् में भगवत्-महिमा-प्रचार कार्य में तुम सहायक हो, इस कारण, मैं आनंदपूर्वक इस उत्तम प्रार्थना को पूर्ण करूंगा । समाहित मन, बुद्धियुक्त और श्रद्धान्वित होकर सुनो ॥ २० - २१ ॥ यह ब्रह्मांड सात ऊपर, और सात नीचे, इस प्रकार, चतुर्दश भुवनों में विभक्त है । इन्हीं चौदह भुवनों को पंडित गण सप्त ऊर्ध्व-लोक और सप्त अधोलोक कहते हैं ॥ २२ - २३ ॥ उनमें से सप्त अधोलोक असुरों की स्वाभाविक आवास-भूमि है और सप्त ऊर्ध्व-लोक देवभूमि है, एवं मृत्युलोक चतुर्दश भुवनों की मध्यसन्धि में स्थित होकर शोभायमान है जो मनुष्यों की आवासभूमि है ॥ २४ - २५ ॥ हे सूत, विद्वान् लोग उसको भूलोक भी कहते हैं ।

इसका पितृलोक, दैवीलोक है (अर्थात् इसके उपर) और मृत्युलोक (नीचे), पार्थिवलोक है ॥ २६ ॥ कभी देवासुर संग्राम होने पर इसका सामयिक रूपसे कहीं कहीं विपर्यय (अर्थात् रूपांतरण) भी होता है ॥ २७ ॥ हे सूत ! ऋषिगण अध्यात्मराज्य के संचालक हैं, इसलिए उनकी गति चतुर्दश भुवनों में अबाधित हैं ॥ २८ ॥ परंतु उनका निवास स्थल सप्त ऊर्ध्व-लोक हैं । ऋषियों की श्रेणियाँ अनेक हैं इस कारण ऊर्ध्व-लोकों में उनके वास-स्थान के नाना भेद निरूपित हैं । जिस प्रकार सप्त अधोलोक असुरभाव प्रधान होने के कारण असुर-राज के द्वारा सर्वदा और सर्वथा नियमों से अनुशासित हैं, उस प्रकार, सप्त ऊर्ध्व-लोकों में देवराज के अनुशासन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे देवलोक-समूह सत्त्वप्रधान है ॥ २९ - ३२ ॥ वहाँ ऋषियों का समागम अत्यंत सुलभ है । अपुनरावृत्तिभाव को धारण करने वाला सत्यलोक तो सदा मुक्तात्मा,

ब्रह्मसद्भावयुक्त, तपोनिष्णात और योगाभ्यासपरायण ऋषियों से अत्यंतपूर्ण है ॥ ३३ - ३४ ॥

हे कुशाग्रबुद्धि सूत, सब सगुणलोकों से पुनरावृत्ति संभव है, इस कारण सब सगुण ऊर्ध्व-लोक, तप और सत्यलोक की सन्धि में स्थित हैं, इसमें विस्मय नहीं ॥ ३५ - ३६ ॥ यथायोग्य अधिकार के ऋषि, ऊर्ध्व-लोकों में ही यथास्थान निवास करते हैं ॥ ३७ ॥ हे सूत ! उनके सत्संग को प्राप्त होकर सब देवतागण उत्तम रीति से स्वधर्म का पालन करने में समर्थ होते हैं ॥ ३८ ॥ पुराकाल में एक समय, अनेक ऋषि एकत्रित होकर, अध्यात्म-तत्त्व-जिज्ञासा की सद्वासना से प्रेरित और एकाग्र-चित्त होकर, श्रद्धा, भक्तिभाव और एकतत्त्व से युक्त एवं शांत होकर, धीशलोक में पहुँचे ॥ ३९ - ४० ॥ उन्होंने वहाँ पहुँचकर उन सच्चिदानंदमय श्रीभगवान् गणपति देव से आदरपूर्वक प्रार्थना की ॥ ४१ ॥

ऋषिगण बोले ॥ ४२ ॥

हे जगन्मान्य ! हे सर्वज्ञ ! हे जगद्गुरो ! हे भगवन् धीश ! हमने पुराकाल में आपकी कृपा से वेदों को प्राप्त करके उनके अर्थानुसंधान में भी कृतकार्यता प्राप्त की है; परंतु हे प्रभो ! आपका यथार्थ स्वरूप हमें परिज्ञात न होने से हमारे चित्त में शांति प्राप्त नहीं हुई है । अब हम आपके लोक में उपस्थित होकर आपके शरणागत हुए हैं । कृपया आप अपने स्वरूप का ज्ञान हमें प्रदान कीजिये और तत्त्वज्ञानों का वह अमृतरूपी ज्ञान-सार सुनाइये, जो उपनिषद्रूप होकर हमारे लिए निःश्रेयसप्रद हो, और जो हमें चिरस्थायी शांति और ब्रह्मानन्द-प्रदानकारी हो ॥ ४३ - ४७ ॥

श्री गणपति बोले ॥ ४८ ॥

हे विप्रो ! मैं अपनी सप्त-ज्ञानभूमियों के ऊपर सच्चिदानंदरूप से अविनाशी होकर भलीभांति विराजमान हूँ ॥ ४९ ॥ हे ब्राह्मणों ! मेरे विभु होने पर भी अहो (अर्थात् महदाश्चर्य है) ! भावुक भक्तगण अपनी इच्छा के अनुसार नानारूप में मेरा दर्शन पाते हैं और कृतकृत्य होते हैं ॥ ५० ॥ हे विप्रों ! मैं रूपरहित हूँ तथापि मेरे श्रद्धावान् भक्तगण मेरे स्थूल रूप, अथवा ज्योतीरूप का दर्शन करके आनंदित और कृतकृत्य होते हैं इसमें विचार (अर्थात् संदेह) की कोई बात नहीं है । इस स्थूल-प्रपंचमय-विषय से परे, इन्द्रियां हैं, इन्द्रियों से परे सब तन्मात्राएँ हैं, तन्मात्राओं से परे वृत्तियां हैं, वृत्तियों से परे भाव है, भाव से भी परे महत् है, और महत् से परे मेरा दर्शन, मेरे तत्त्वचिन्तक-योगनिष्णात-ज्ञानी भक्त, (नित्य रूप से) करते हैं । इस परम रूप को जानकर आप लोग चिरकाल तक शांति प्राप्त करें ॥ ५१ - ५५ ॥ हे महर्षियों ! मैं ही सत्-रूप हूँ, मैं ही चित्-रूप भी हूँ और मैं ही आनंदरूप हूँ इसमें संदेह नहीं । मैं विभु, निर्विकार, निर्गुण, निराकार, निर्लिप्त, द्वन्द्वातीत और निश्चय ही ज्ञानस्वरूप हूँ ॥ ५६ - ५७ ॥

हे महर्षिगण ! मेरी मूल प्रकृति, स्वरूप-अवस्था में मुझमें ही लीन रहकर, अद्वैतभाव को उत्पन्न करती है ॥ ५८ ॥ किंतु हे विप्रो ! वह व्युत्थान दशा में (अर्थात् प्रतिभासिक रूप से मेरे विपरीत

दशा में) अपने त्रिगुणात्मक रूप को धारण करके, दृश्य प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और लय-क्रिया को, मेरी आज्ञा के वशवर्तिनी होकर (अर्थात् वशानुसार होकर) सदा (दृष्यमान) करती रहती है । हे ब्राह्मणों ! मेरी प्रकृति के सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण, मेरे सच्चिदानंदमय त्रिभावों से जाने जाते हैं । मैं ही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावों से प्रकट होकर अपने ज्ञानी भक्तों कों निश्चय ही शीघ्र तत्त्वज्ञान प्रदान करता हूँ, इसमें संदेह नहीं ॥ ५९ - ६२ ॥ तब मेरे ज्ञानी भक्त त्रिभाव की सहायता से ही मेरी अघटनघटनापटीयसी (वह पर्दा जिस पर कारणरहित घटना निर्मिति होती हो, चेतना के क्षेत्र में होनेवाला घटना-क्रम, "अपटी" अर्थात् पर्दा) त्रिगुणमयी प्रकृति का यथार्थरूप में दर्शन करके अंत में मेरी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥ ६३ - ६४ ॥

मेरे स्वरूपज्ञान की प्राप्ति के लिए, सब प्रकार से उत्तम, त्रिभावात्मक-अद्भुत-तटस्थ ज्ञान ही श्रेष्ठ उपाय है ॥ ६५ ॥ मेरी कारण-दशा में सत्, चित् और आनंदरूप तीनों भाव, निःसंदेह अद्वैतरूप में ही रहते हैं ॥ ६६ ॥ मेरी ही प्रकृति से उत्पन्न कार्यब्रह्म के सभी अंगो-उपांगों में, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी तीनों पृथक् जगतों को मैं प्रकाशित करता हूँ ॥ ६७ - ६८ ॥ इस जगत् में ऐसा स्थान नहीं जो त्रिभाव से व्याप्त न हो । मेरे ज्ञानी भक्त जो ब्रह्म, ईश और विराट् रूप में मेरा दर्शन करके भक्तिसागर में उन्मज्जन (मज्जन - गोता लगाना) और निमज्जन करते हैं, वहाँ भी नित्य भावत्रय को ही कारण जानो ॥ ६९ - ७० ॥ जो मन और वाणी के अगोचर कहे गये हैं, वे ब्रह्म हैं । उनको सबका कारण और सबका अध्यात्म जानो ॥ ७१ ॥ अनादि, अनंत, अजन्मा, दिव्य, अजर, अमर, नाशरहित, अनूह्य (अर्थात् निष्कर्ष/बुद्धि द्वारा जिन के अस्तित्व का पता लगाया नही जा सक्ता) और अज्ञेय ब्रह्म प्रथम हैं ॥ ७२ ॥

अपनी इच्छारूपिणी माया से जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय के कारण हैं, वे ईश्वर हैं । वे ईश्वर-तत्त्व "अधिदैव" कहलाते हैं ॥ ७३ ॥ वे सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अंतर्यामी, कृपासागर, सब सद्गुणों के साररूप, दोष-शून्य पुरुषोत्तम हैं ॥ ७४ ॥ और जो विश्व के निधान (अर्थत् संग्रह), प्राकृतात्मक, स्थूलतर और विराटूप कार्यब्रह्म हैं, वे "अधिभूत" कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥ अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूप-भावत्रय संबंधी उत्तमतत्त्व, मैं आप लोगों से फिर से कहता हूँ, सुनो ॥ ७६ ॥ हे ब्राह्मणों ! अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव जिस प्रकार कारण में हैं, उसी प्रकार वे कार्य में अवश्य हैं ॥ ७७ ॥ उनका विस्तार से स्वरूप मैं कहता हूँ, सुनो । हे महर्षियों ! मैं ही अपनी उन महामाया का उत्तमता से आश्रय करके अध्यात्मभाव से ऋषि, अधिदैव भाव से देवता और अधिभूत भाव से पितृरूप धारण करता हूँ और अनेक ब्रह्मांडसमूहों का सर्वदा संरक्षण करता हूँ ॥ ७८ - ८० ॥ पंच महाभूतों में प्रथम भूत आकाश है । वहाँ श्रोत्र अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिशाएँ अधिदैव कही गई हैं ॥ ८१ ॥ द्वितीय भूत वायु है । वहाँ त्वक् अध्यात्म, स्पर्श अधिभूत और विद्युत् अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८२ ॥

तृतीय भूत ज्योति अर्थात् अग्नि है । वहाँ चक्षु अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८३ ॥ चतुर्थ भूत जल है । वहाँ जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और सोम अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८४ ॥ पंचमभूत पृथिवी है । वहाँ घ्राण (अर्थात् नाक) अध्यात्म, गंध अधिभूत और वायु अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८५ ॥ तत्त्वदर्शी ब्राह्मण कहते हैं कि पाद (अर्थात् पैर) अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और वहाँ विष्णु अधिदैव हैं ॥ ८६ ॥ निम्न गतिशील अपान (अर्थात् बहिर्गामी श्वास) है, वहाँ पायु (अर्थात् नितम्बद्वार) अध्यात्म, विसर्ग अधिभूत और मित्र अधिदैव है ॥ ८७ ॥ सब जीवों का उत्पादक-उपस्थ (अर्थात् शिश्न) अध्यात्म है, शुक्र अधिभूत और प्रजापति अधिदैव हैं ॥ ८८ ॥ अध्यात्म शास्त्र के पंडितगण दोनो हाथों को अध्यात्म कहते हैं, कर्म अधिभूत और शक्र (अर्थात् इन्द्र) वहाँ अधिदैव है ॥ ८९ ॥

विश्वेदेवा से उत्पन्न प्रथम वाणी अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत और वहाँ वह्नि (अर्थात् अग्नि) अधिदैव है ॥ ९० ॥ समस्त संसार का कर्त्ता अहंकार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत और रुद्र वहाँ अधिदैव है ॥ ९१ ॥ यथार्थ देखनेवाले विद्वद्गण बुद्धि को अध्यात्म, ज्ञेय को अधिभूत और क्षेत्रज्ञ को अधिदैव कहते हैं ॥ ९२ ॥ पंचभूतों से आत्मा को आवृत करनेवाला मन अध्यात्म है, संकल्प अधिभूत और चंद्रमा अधिदैव है ॥ ९३ ॥ वेद को निःसंदेह मेरा शब्दमय स्वरूप जानना चाहिये । वेदविद्वर कहते हैं कि वहाँ श्रुतियाँ अधिभूत, ईश्वर अधिदैव और ज्ञान अध्यात्म है । हे विप्रो ! मेरी शक्ति ही सरस्वती, गायत्री और सावित्री ये तीनों रूप धारण करके वेदों में ज्ञान-शक्ति क्रिया-शक्ति और यज्ञ-शक्ति इन तीन शक्तियों को उत्पन्न करती है । हे ब्राह्मणश्रेष्ठो, इसमें कुछ संदेह नहीं ॥ ९४ - ९७ ॥ वेद और वेद-संमत शास्त्र एक ही हैं, इस कारण उन वेद-संमत शास्त्रों में भी त्रिभावों का निःसंदेह ऐसा ही सादृश्य है ॥ ९८ ॥ अंतःकरण ही बंध और मोक्ष का कारण है । वहाँ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों ही अधिभूत हैं, ब्रह्मा अधिदैव और मेरा आनंदविलास अध्यात्म कहा जाता है ॥ ९९ - १०० ॥

जगद्धारक धर्म का अधिभूत कर्म हैं, अधिदैव उपासना और अध्यात्म ज्ञानकांड है ॥ १०१ ॥ हे ब्राह्मणों, सब धर्मांगों में से प्रत्येक धर्मांग के साथ भी, भावत्रय का संबंध है, इसमें कुछ संशय नहीं ॥ १०२ ॥ हे ब्राह्मणों, वेद ही मेरी आज्ञा का प्रकाशक है और वेदसंमत शास्त्र-समूह उसकी व्याख्यारूप है ॥ १०२ ॥ इस कारण वेद और वेद-संमत शास्त्रों में मैं ही समाधि-भाषा, लौकिक-भाषा और परकीय-भाषा रूप से त्रिविधभावों को धारण करके निरंतर प्रकाशित हूँ । सब विद्याओं का अधिभूत, शास्त्र है, अधिदैव ऋषि हैं और अध्यात्म वेद कहा गया है । हे महर्षिगण, सृष्टि का अधिभूत पिंड सृष्टि ही है, अधिदैव ब्रह्मांड-सृष्टि ही है और अध्यात्म मेरे चित् और सत् भाव में आनंद का नित्य विलास कहा गया है, जो अनंत-कोटि ब्रह्मांडों का कारण हैं । हे महर्षिगण, प्रलय का पिंड-प्रलय अधिभूत है, जिसको अज्ञ-लोग जीवों का रोमांचकारी मृत्यु कहते हैं, अधिदैव ब्रह्मांड-प्रलय है और अध्यात्म-प्रलय जीवों के मत्-सायुज्य प्राप्त होने को

कहते हैं । हे विज्ञो, पाश अर्थात् आवरण ही जीवों के बंधन का कारण कहा जाता है, जिसका पंचकोष अधिभूत है, अविद्या अधिदैव है, और मेरी सत्-सत्ता अध्यात्म है ॥ १०४ - १११ ॥

हे विज्ञ ब्राह्मणों, सृष्टि के सामंजस्य की रक्षा के लिए जो देवासुर संग्राम हुआ करता है, वह भी त्रिभाव से पूर्ण है यह निःसंदेह है । धर्माधर्म वृत्तियों का जो अंतःकरण में नित्य अद्भुत द्वन्द्व युद्ध होता है वही उसका अध्यात्म है ॥ ११२ - ११४ ॥ हे ब्राह्मणों, देवलोक के नैमित्तिक (क्षणिक) देवासुर संग्राम ही अधिदैव हैं और सत्यलोक में दैवी और आसुरी सम्पत्ति के प्रभाव से जो परस्पर महा-संग्राम होता है वही उसका अधिभूत है यह निश्चय है । हे विप्रो, मेरी ही प्रकृति मेरे ही आश्रय से निरंतर सृष्टि-प्रपंच प्रकट करती है इस कारण मेरी प्रकृति के तीन गुण बंधन के हेतु होते हैं ॥ ११५ - ११८ ॥ परंतु जो मेरे तीनों भावों का आश्रय ग्रहण करके मेरी प्रकृति को देखते हैं, वे प्रकृति के तीनों गुणों से कभी बंधन-कृत नहीं होते ॥ ११९ ॥

हे विप्रो, मेरे और अपने उदाहरण को लेकर, मेरी यह प्रकृति अपार संसार में स्त्री-धारा और पुरुष-धारा को उत्पन्न करके जगत् को परिव्याप्त करती है । इस कारण इन दोनों धाराओं में, बंधन दशा और मुक्त दशा, चरितार्थ के विचार से, निश्चय ही त्रिभाव के दो भेद हैं । हे महर्षिगण, सृष्टि-दशा में, स्त्री और पुरुष में क्षेत्र और बीज अधिभूत, पितृगण अधिदैव और वहाँ भूतभावोद्भावकर विसर्गरूपी कर्म (अर्थात् जो कर्म घटनाओं को निर्मित करता है) अध्यात्म कहा जाता है इसमें कुछ संदेह नहीं और मुक्ति-दशा में स्त्री और पुरुष में मेरी प्रकृति और मेरा लिंगरूप अधिभूत, मेरा सत् और चिद्भाव अधिदैव और वहाँ निःसंदेह परमानन्द ही अध्यात्म है ॥ १२० - १२५ ॥ हे ब्राह्मणों, मैं इसी प्रकार से सब देश, काल और पात्रों में त्रिभावों से दर्शन देकर प्रकृति के बंधन से अपने ज्ञानी भक्तों को निश्चय ही बचाया करता हूँ इसमें संदेह नहीं ! हे ब्राह्मणश्रेष्ठो, मैंने आप लोगों से यह गूढ रहस्य कहा है ॥ १२६ - १२७ ॥

मेरे तीन भावों के शुद्ध भावमय वाचक, पूर्ण-शक्ति-प्रकाशक-मंत्र "ॐ तत् सत्", के निरंतर जप और उसके अर्थों की भावना (के चिंतन) द्वारा ज्ञान-निष्णात और मंत्र-तत्त्व-परायण, मेरे भक्तों को अविभक्त-ज्ञानपूर्ण अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है । हे महर्षियों, मेरे ही सत्, चित् और आनंद् भावों को आश्रय करके, अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी त्रिभाव, संपूर्ण कार्य-ब्रह्म में प्रकट हैं ॥ १२८ - १३१ ॥ इस कारण त्रिभाव से रहित कोई दृश्य हो ही नहीं सक्ता । मेरे ज्ञानी भक्त, जब ज्ञान-योग की अंतिम-स्थलरूपा-भक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त करके, मेरे दर्शन करने में समर्थ होते हैं, तब वे सब, देश और काल (स्पेस्-टाईम) में मेरे त्रिभाव का अनुभव करते हुए, निःसंदेह मद्गतचित्त हो जाते हैं । उस समय अघटनघटनापटीयसी, त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति-देवी सत्त्व, रज और तमरूपी तीनों गुणों से मेरे भक्तों को बंधन करने में असमर्थ हो जाती है । मेरी प्रकृति ही विद्यारूप धारण करके ज्ञानी भाक्तों को मत्-सायुज्य प्राप्त कराती है, इसमें संदेह नहीं ॥ १३२ - १३६ ॥

॥ इस प्रकार श्री धीश गीतोषपनिषद् के ब्रह्मविद्या संबंधि धीशर्षि संवादात्मक योग-शास्त्र का स्वस्वरूप-भाव निरूपण नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

## २. सिद्धिस्वरूपवर्णन

॥ महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे कृपानिधे ! आपके लोकोत्तर-दिव्य और तत्त्वातीत-परमतत्त्वरूपी स्वरूप को यथार्थरूप और भलीभाँति जानकर, और संपूर्ण दृश्य-प्रपंचसमूह में परिव्याप्त आपके त्रिभावात्मक स्वरूप का परम अद्भुत रहस्य सुनकर हम निःसंदेह कृतकृत्य हुए हैं, परंतु हमारे हृदय में एक और महत् कौतूहल (आश्चर्य) उत्पन्न हुआ है ॥ २ - ४ ॥ हम देख रहे हैं कि सप्त ज्ञानभूमि के ऊपर सुरम्य कमल पर आप सुखपूर्वक आसीन हैं ॥ ५ ॥ हे सर्वात्मन् ! हे विभो ! हे सर्वज्ञ धीश ! जिस पर आप बैठे हुए हैं, उस कमल का सौंदर्य वाक्, मन और बुद्धि से अतीत है ॥ ६ ॥ हे प्रभो धीश ! आपके शरीर का वर्ण रक्त होने पर भी वह रक्त आदि सब रंगों से अतीत होकर हमारी रूप-दर्शन-तृष्णा को इस समय भलीभांति तृप्त कर रहा है । आप चतुर्भुज होकर अपने चक्र, पद्म, त्रिशूल और मोदकरूप दिव्यास्त्रों से विभूषित इन हाथों से, अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करने के लिए मानों हमें नित्य आशान्वित कर रहे हैं ॥ ७ - ९ ॥

आप गजवदन होकर हमारी बुद्धि को समाहित कर रहे हैं । आपने पहले जो हमें उपदेश दिया है उसके द्वारा हम आपके स्वरूप के रहस्य को तो यत्किञ्चित् समझने में समर्थ हुए हैं परंतु आपके वाम-अंक-वर्तिनी शंख, चक्र, शक्ति और पद्म से अति विभूषित चतुर्भुजा लोहितवर्णांगी और शक्ति-शालिनी षोडशी-जगत्-मोहिनी जिस देवी को हम लोग देखते हैं, उनके स्वरूप का रहस्य अभी तक हमारे समझ में नहीं आया, इसलिए कृपा करके समझाएँ वे कौन हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? और उनका विस्तारित रहस्य क्या है ? सो विस्तार पूर्वक वर्णन करके हमें कृतकृत्य कीजिये ॥ १० - १४ ॥

गणपति बोले ॥ १५ ॥

मेरे सब कार्यों में सहायिका ये देवी, मेरी ही शक्ति हैं, जिनको वेदज्ञ ब्राह्मण गण, "सिद्धि" नाम से अभिहित (अंग्रेजी अर्थ label/appellation) करते हैं ॥ १६ ॥ हे विप्रवृन्द ! मेरी त्रिगुणशोभित प्रकृति ही सिद्धिरूप धारण करके सदा मेरी सेवा में अति प्रसन्न होकर रत रहती हुई, निरंतर मेरा आश्रय करके, शोभायमान है । पूर्ण अवयव-सुशोभित षोडशी, सर्व सौंदर्यसमन्विता, मनोहारिणी, शंख-चक्र-शक्ति, पद्मधारिणी, शक्तिरूपिणी, सिद्धि किसी समय भी मेरी सेवा से च्युत (अर्थात् छूटना या विमोचित होना) नहीं होती है ॥ १७ - १९ ॥ यद्यपि मैं इसकी सेवा

ग्रहण करने में निरपेक्ष रहता हूं, तो भी यह चतुर्विध रूप धारण करके मेरी सेवा की इच्छा करती है ॥ २० ॥ इसी कारण हे ब्राह्मण श्रेष्ठो ! इस सिद्धि के चार भेद हैं यथा — अधिभूत-सिद्धि, अधिदैव-सिद्धि, अध्यात्म-सिद्धि और सहज-सिद्धि ॥ २१ ॥ जिस प्रकार चित् के साथ ऐश्वर्य का संबंध है, सत् के साथ बल का, शक्ति के साथ कर्म का और तेज के साथ रूप का संबंध है, उसी प्रकार मेरे साथ सिद्धि का नित्य संबंध है । यह संबंध अलौकिक है, इसमें विचार न करना ॥ २२ - २३ ॥

हे विज्ञो ! जिस प्रकार विष्णु को लक्ष्मी प्रिय है, शंभु को श्यामा प्रिय है और ब्रह्मरूपिणी महाशक्ति को स्वकार्य ब्रह्म का चिद्-विलासरूप भाव प्रिय है, एवं जिस प्रकार सूर्यदेव को अरुण (सूर्यदेव के सारथी) प्रिय है, उसी प्रकार हे महर्षिगण, मुझे यह सिद्धि प्रिय है, परंतु निर्लिप्त, निर्विकार और ज्ञान-स्वरूप मुझे, सिद्धि अपने प्रेम के आवरण से फंसा नहीं सक्ती । हे महर्षिगण ! इस प्रकार का सिद्धि के साथ मेरा अलौकिक संबंध है ॥ २४ - २७ ॥ जगत् में जो मंत्र-सिद्धि, तप-सिद्धि और योग-सिद्धि, प्रकार की नानाविध सिद्धियाँ प्रचलित हैं, अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ हैं, अथवा मेधा, प्रतिभा आदि जैव सिद्धियाँ प्रचलित हैं, या जगत् में जो औषधि-सिद्धि, रसायन-सिद्धि और पदार्थ-सिद्धि नाम से प्रचलित हैं, जो धन-सिद्धि, बल-सिद्धि, पुरुषार्थ-सिद्धि, संमोहित करने की सिद्धि आदि प्रचलित है, वेद तथा नानाशास्त्र के प्रकाश की जो नाना ज्ञान-संबंधीय सिद्धियाँ हैं, वे सब मेरी सिद्धि की ही अंगभूत हैं, इसमें संदेह नहीं ॥ २८ - ३२ ॥

हे विप्रो ! जन्म, पद्, औषधि, मंत्र, उपासना, तप, संयम और समाधि के द्वारा अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३३ ॥ सिद्धिलाभ के लिए ये ही आठ उपाय प्रधान हैं । जाति-स्मरत्व आदि सिद्धियाँ जन्म-सिद्धियाँ हैं ॥ ३४ ॥ सिद्ध-गुटिका, काया-कल्प, रसायन और इस प्रकार की अन्य सिद्धियाँ, औषधि सिद्धियाँ कहलाती हैं ॥ ३५ ॥ राजशक्ति, नैमित्तिक-देवशक्ति और इस प्रकार की अन्य सब शक्तियाँ, पद-सिद्धियाँ कहलाती हैं ॥ ३६ ॥ देवदर्शनादि उपासना सिद्धियाँ कहलाती हैं, जिनके प्राप्त होने पर अवश्य ही अभ्युदय होता है ॥ ३७ ॥ वशीकरणादि षड्कर्म, तथा उस प्रकार की और सिद्धियाँ, मंत्रसिद्धि के अंतर्गत हैं, इसमें संदेह नहीं ॥ ३८ ॥ तप, संयम और समाधि द्वारा दैवी या लौकिक, ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं जो प्राप्त न हो सके ॥ ३९ ॥ हे विप्रो ! इन आठ उपायों के द्वारा चतुर्विध सिद्धियाँ निश्चय प्राप्त हुआ करती हैं, इसमें विचार न करो ॥ ४० ॥ संसार में मेरी शक्ति से उत्पन्न जो अनंत प्रकार की सिद्धियाँ हैं, वे सब मेरे द्वारा पहले से ही चार श्रेणियों में विभक्त हैं और उनकी प्राप्ति के लिए ही आठ उपाय मैंने विधान किये हैं, हे ब्राह्मणों ! उन्हीं के द्वारा वे अवश्य प्राप्त होती हैं ॥ ४१ - ४२ ॥

हे विप्रो ! सब लौकिक-कार्यकारिणी सिद्धियों को आधिभौतिक सिद्धियाँ, दैव-कार्यकारिणी सिद्धियों को अधिदैविक सिद्धियाँ, और ज्ञान-विज्ञान प्रकाशक सिद्धियों को संसार में बुधगण, अध्यात्मिक-सिद्धियाँ कहते हैं ॥ ४३ - ४५ ॥ मंत्रद्रष्टि इसी सिद्धि के अंतर्गत हैं हे विप्रश्रेष्ठों,

इसमें विस्मय न करो ॥ ४६ ॥ परंतु हे विज्ञवरों ! सहज नाम्नी जो सिद्धि है वह इन सब सिद्धियों से अत्यंत अलौकिक है ॥ ४७ ॥ मेरे अवतारों में इस सहज सिद्धि का स्वतः ही अत्यंत विकाश (दिग्दमान) होता है । जब तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश के द्वारा अपने जीवभाव को नाश करके शिवस्वरूप होकर निर्विकल्प समाधिस्थ रहते हुए, साधक मुझमें लीन होते हैं तब उनमें मेरी इच्छा से कभी-कभी सहज सिद्धि का विकाश हुआ करता है ॥ ४८ - ५० ॥ हे ब्राह्मणों ! यद्यपि उच्चश्रेणी की सहज सिद्धियाँ अनेक हैं तब भी उनमें से केवल तैन्तीस ही मुख्य हैं ॥ ५१ ॥ अवतारों में, योगियों में और जीवन-मुक्त महापुरुषों तथा तपस्वियों में तैन्तीस प्रकार की सिद्धियाँ प्रकट होती हैं ॥ ५२ ॥ हे ब्राह्मणों ! उनके पवित्र नामों का वर्णन अब आपके समीप करता हूँ । उनको सावधान होकर सुनो ॥ ५३ ॥ अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, वशित्व, गरिमा, ईशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, अभीप्सित सर्वज्ञत्व, वह्निस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजीवित्व, वायुस्तम्भ, क्षत्-स्तम्भ (मृत्यु, विदारण स्तम्भ), पिपासास्तम्भ, निद्रास्तम्भ, कायव्यूह, वाक्-सिद्धि, ईप्सितमृतानयन, सृष्टिकर्तृत्व, संहारकर्तृत्व, प्राणाकर्षण, प्राणप्रदान, लोभादिस्तम्भन, इन्द्रियस्तम्भन, बुद्धिस्तम्भन, कल्पवृक्षत्व, अमरत्व और सत्यानुसंधान, ये सब सिद्धियाँ वेद और शास्त्रों में वर्णित हैं ॥ ५४ - ५५ ॥

मेरी अघटनघटनापटीयसी, जगद्विमोहिनी प्रकृति, जिसका दूसरा नाम महामाया है, वही तपस्वियों को, योगियों को, और बड़े बड़े ज्ञानियों को, नाना सिद्धियों के द्वारा निरंतर विमोहित करके मुक्तिमार्ग में अड़्चन बनती हुई अपने विलासस्वरूप में, इस आवागमन चक्र में चारो ओर वारंवार घुमाया करती है ॥ ६० - ६२ ॥ परंतु हे ब्राह्मणों ! महामायानाम्नी वह मेरी प्रकृति, मेरे ज्ञानी भक्तों को कदापि विमोहित नहीं कर सकी ॥ ६३ ॥ मेरे ज्ञानी भक्तों का सिद्धियों को प्रकाश करना, सती-कुल-कामिनियों के अंग दिखाने के समान होता है ॥ ६४ ॥ जिस प्रकार कोई भी कुलकामिनियाँ कदापि किन्ही परपुरुषों को अपने अंगों को नहीं दिखा सकती परंतु निर्लज्जा, कुलटा अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियाँ समाज में अपने अंगों को दिखाने के लिए जिस प्रकार उत्कण्ठित रहती हैं, उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तगण सर्व-समर्थ होने पर भी अपनी सिद्धि को कदापि प्रकट नहीं करते । किंतु हे ब्राह्मणों ! लक्ष्यहीन तपस्वी, भक्तिहीन योगी और ज्ञानहीन उग्रकर्मा-साधक, वणिक्-वृत्ति (अर्थात् बनिया-वृत्ति) से अपनी सिद्धयों को प्रकट करके अत्यंत पतित होते हैं; इसलिए महात्माओं को सर्वथा, सिद्धियाँ प्रकाशित नहीं करनी चाहिये ॥ ६५ - ६९ ॥ जिस प्रकार भ्राता, पुत्र, आत्मीय और स्वजन अनिच्छा से कभी-कभी कुलकामिनी का अंग-दर्शन दैवात् कर लेते हैं, उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तों का सिद्धवैभव दैवात् कभी-कभी जगत में हठात् प्रकाशित हो पड़ता है ॥ ७० - ७१ ॥

हे विप्रो ! मेरी सिद्धि जिस प्रकार दो हाथों से माया-विमोहित जीवों को निरंतर, अर्थ और शक्ति

देती हुई, चिरन्तन-कारागार-रूपी संसार में फंसाकर रखती है, उसी प्रकार अपने अन्य दो हाथों से धर्म और अर्थ देती हुई ज्ञानी-भक्तों को अभ्युदय और निःश्रेयस अवश्य प्रदान करती है । मोहित, ज्ञानहीन, कर्मासक्त-चित्त साधक, छणभंगुर, परिणामशील और माया से उत्पन्न सिद्धियों को प्राप्त करके उनके द्वारा बार-बार नरक-लोक, स्वर्ग-लोक, प्रेत-लोक और पितृ-लोक में घूमते हुए त्रिताप से तापित होते रहते हैं ॥ २७ - ७६ ॥ परंतु मेरे ज्ञानी भक्तगण परमानन्दसागर, सच्चिदानंदमय स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर समस्त सिद्धियों का सर्वस्व, अर्थात् परमसिद्धि रूपी मुझको ही भलीभांति प्राप्त करते हैं । उसके बाद वे मेरे परमपद के अनायास अधिकारी हो जाते हैं ॥ ७७ - ८७ ॥

हे महर्षिगण ! मेरी शक्तिरूपिणी सिद्धि अति प्रभावशालिनी हैं । वह मुझमें भक्तिहीन जीवों को मुझसे अत्यंत विमुख करके और अज्ञानरूपी आवर्त्त (जलभंवर ) से संकुल इस संसाररूपी अपार समुद्र में निरंतर गिराकर सर्वदा क्लेशित करती है । ॥ ७९ - ८० ॥ और पुनः वह मुझमें अनन्य भक्ति करनेवाले श्रेष्ठ साधकों को मेरे निकट पहुँचा कर शीघ्र कृतार्थ कर देती है ॥ ८१ ॥ जिस प्रकार स्नेहमयी माता अपने पुत्रों को बड़े यत्न से पालती-पोसती और प्रसन्नता से बढ़ाती हुई, परममंगलमय अधिकार को शीघ्र प्राप्त करा देती है, उसी प्रकार करुणामयी यह सिद्धि सदा माता के समान आर्त्त, जिज्ञासु धौर अर्थार्थी इन मेरे त्रिविध भक्तों को निश्चय ही परम आनंद-समूह और उत्साह भलीभाँति देती हुई, शीघ्र मेरी ओर उनको अग्रसर करती है । हे विज्ञवरों ! मेरी सेवा में रत प्रकृति के स्वरूप, दो प्रकार से विभक्त हैं, इसमें विचारने की कोई बात नहीं है । एक को परा और एक को अपरा जानो ॥ ८२ - ८६ ॥ अपरा नाम्नी मेरी प्रकृति अपने त्रिगुणात्मक जाल में सब जीवों को माया से फसा कर उनको द्वन्द्व का अनुभव निरंतर कराती हुई अपने विलासरूपी-लीलामय-संसार को प्रकट करती है ॥ ८७ - ८८ ॥ और मेरी धन्या-परा-प्रकृति साधकों के हृदय-कमल में मेरी भक्तिरूपिणी भृंगावलि को संनिविष्ट करके त्रिगुण वैभव को बार-बार दर्शन कराती हुई, उनको द्वन्द्वातीत पद में पहुँचाकर मेरा दर्शन करा देती है ॥ ८६ - ९० ॥

इसी कारण हे विज्ञवरों, मेरी प्रकृति की इन दो दशाओं में मेरी सिद्धि के स्वरूप का विकाश भी द्विविध होता है । एक परा सिद्धि और दूसरी अपरा सिद्धिं नाम से अभिहित होती हैं । सिद्धि के जो अनेक रूप पहले कहे गये हैं वह नाना-रूपधारिणी-सिद्धि मेरी अपरा सिद्धि है इसमें आप लोगों को संदेह नहीं होना चाहिये । हे ज्ञान के अधिकारी ब्राह्मणों, जो पूज्या परानाम्नी सिद्धि है, वह चिन्मयी-सात्त्विकी, नित्या-हिता, अद्वैतकारिणी और स्वरूपानन्द-संदोह प्रकाशिनी कही गई है ॥ ९१ - ९४ ॥ हे ब्राह्मणों ! मेरी ऐसी सिद्धियाँ मेरी इच्छा के बिना संसार में कदापि प्रकाशित नहीं हो सकती ॥ ९५ ॥ क्योंकि मेरी शक्ति स्वेच्छाचारिणी नहीं हो सकती इस कारण मेरे अवतारों में और कभी-कभी मेरे ज्ञानी भक्तों में भी मेरी ऐसी सिद्धयों का प्रकाश स्वतः हुआ करता है । हे

महर्षिगण, मेरे अवतार समूह का आविर्भाव अथवा ज्ञानी भक्तों में ऐसी सिद्धि का विकाश, जीवों के समष्टि कर्माधीन है ॥ ९६ - ९८ ॥ इस कारण हे ब्राह्मणों, ऐसी सिद्धियाँ अत्यंत दुर्लभ हैं । हे महर्षियों, आप मेरे स्वरूप और मेरी सिद्धि के स्वरूप को भली प्रकार जानकर कभी भी मेरी अपरा सिद्धि के बंधन-जाल में न फंसो और मेरी चिन्मयी परासिद्धि के परम अद्भुत महत्त्व को जानकर और उसकी ही उपासना करके द्वन्द्वातीत अद्वैतानंद-प्रकाशक सनातन परमपद प्राप्त करो ॥ ९९ - १०१ ॥ हे ब्राह्मणों ! आप इस प्रकार स्थिर लक्ष्य रखकर मेरे त्रितापरूपी त्रिशूल और सिद्धिरूपी मोदक आयुधों की ओर कभी भी दृष्टि न रखकर और चक्र और पद्मरूपी धर्म और मोक्ष पर निरंतर लक्ष्य रखकर और अग्रसर होकर कभी बाधा को प्राप्त नहीं होंगे, इसको सत्य जानो, इसमें कुछ संशय नहीं है ॥ १०२ - १०४ ॥

॥ इस प्रकार श्री धीश गोतोपनिषद् में ब्रह्मविद्या-संबंधी योग शास्त्र का धीशर्षि संवादात्मक सिद्धिस्वरूप निरूपण नाम का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

## ३. ज्ञानभूमिनिरूपण

महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे सर्व शक्तिमान विभो ! हे सर्व सिद्धियों के नित्य आधार स्वरूप ! हे सर्व सिद्धिदायिन् ! हे भगवन् धीश ! परासिद्धि की कृपा-प्राप्ति के लिए प्रथम उनके दर्शनलाभ की निश्चय ही आवश्यकता है, अतः उसके उपाय कहें, जिनके द्वारा परासिद्धि के दर्शन हम लोगों को अनायास हों अथवा जिस प्रकार से हम लोग कृतार्थ होवें, सो उपदेश कीजिये ॥ २ - ४ ॥

गणपति बोले ॥ ५ ॥ नित्या और विद्यास्वरूपिणी मेरी परासिद्धि का दर्शन ज्ञान-भूमियों में तत्त्वज्ञाननिष्ठ ज्ञानी महापुरुषों को दिव्यदृष्टि से हुआ करता है और इस संसार में शांतचित्त तत्त्वज्ञानी साधक क्रमशः जैसे जैसे सप्तज्ञान भूमियों में अग्रसर होते जाते हैं, वैसे वैसे उत्तरोत्तर मेरी विद्यारूपिणी परासिद्धि के स्वरूप का अत्यंत स्पष्ट दर्शन प्राप्त करते हुए परमानन्द सागर में निमग्न होते जाते हैं ॥ ६ - ९ ॥ हे विज्ञवर ब्राह्मणों ! मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ, और ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है : एक तटस्थज्ञान और दूसरा स्वरूपज्ञान । हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! जहाँ ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेयों के भान से युक्त त्रिपुटि का संबंध है वहीं स्वरूप ज्ञान का कारणभूत, तटस्थ ज्ञान है । इस तटस्थज्ञान में सत्, चित् और आनंद भावों का स्वरूप, पृथक् पृथक् अनुभूत होता है, इस कारण उस अवस्था में संपूर्ण दृश्य-समूह प्रतीत होता है ॥ १० - १३ ॥

जहाँ त्रिपुटि संबंध का लेशमात्र नहीं है और जहाँ सत्-चित् और आनंद भाव का स्वतंत्र अनुभव नहीं है और जहाँ ये तीनों ही अद्वैत भाव में निरंतर स्थित हैं वहीं उत्तम स्वरूप-ज्ञान का उदय होता है ॥ १४ - १५ ॥ तटस्थ ज्ञान बहुभावों से युक्त है क्योंकि अहम्-तत्त्व और महत्तत्त्व दोनों

के संयोग से उसका अस्तित्व है ॥ १६ ॥ परंतु स्वरूप-ज्ञान नित्य अविकारी और पूर्ण है और तत्त्वातीत परमपद में उसकी नित्यस्थिति विद्यमान रहती है ॥ १७ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! जब परिणामशील तटस्थज्ञान से शनैः शनैः स्वरूप-ज्ञान का उदय होने लगता है, तब तत्त्वज्ञानी महात्माओं में सर्वभूतों में अविभक्त, सब देश-काल और पात्रों में विकाररहित और सर्वभूतों में एक ही भाव को दिखानेवाला उन्नत सात्त्विक ज्ञान, स्वतः ही प्रकाशित होता है, इसमें संदेह नहीं, हे महर्षिगण ! उसके प्रभाव से ही मुक्तात्मा स्वरूप-ज्ञान का अनुभव अनायास कर लेते हैं इसमें विस्मय न करो ॥ १८ - २२ ॥ जैसे शब्द के बिना आकाश, स्पर्श बिना वायु, रूप बिना अग्नि, रस बिना जल और गंध के बिना पृथिवी का अस्तित्त्व कभी नहीं हो सक्ता, उसी प्रकार अहंकार के बिना तटस्थ ज्ञान का उदय नहीं हो सक्ता ॥ २३ - २४ ॥ परंतु स्वरूप-ज्ञान में अणुमात्र भी द्वैत की संभावना नहीं है, इस कारण वह मेरा ही स्वरूप है ॥ २५ ॥ हे ब्राह्मणों ! विभक्त ज्ञान अविद्यासंभूत है और उत्तम अविभक्त ज्ञान विद्यासंभूत (संभूत = composed) है ॥ २६ ॥ मैं ज्ञानरूप हूँ इस कारण यद्यपि दोनों ज्ञान में हूँ तथापि, यह अविभक्त ज्ञान परमपद की प्राप्ति कराता है ॥ २७ ॥ विभक्त ज्ञान जीवों को मुझसे अत्यंत अलग स्थित रखता है । मुमुक्षुओं को विभक्तज्ञान से अविभक्तज्ञान-मंदिर में पहुँचाकर मेरे स्वस्वरूप में अनायास ही पहुँचाने के लिए वेदो ने पहले ही सात ज्ञानभूमियों का वर्णन किया है ॥ २८ - २९ ॥ विश्व को बंधन प्राप्त करानेवाली सात अज्ञानभूमिकाओं में अज्ञानांध जीव विमोहित होकर सदा फंसे रहते हैं ॥ ३० ॥ वेदविहित कर्मकांड की सहायता से साधक प्रथम शरीर की शुद्धि और तदनंतर मन की शुद्धि संपादन करके तत्पश्चात् मेरी उपासना के द्वारा चित्त की वृत्तियों को शांत करके अंत में तत्त्वज्ञान का दुर्लभ अधिकार प्राप्त करते हैं ॥ ३१ - ३२ ॥ एवं तदनंतर हे ब्राह्मणों, क्रमशः सातों ज्ञानभूमियों को सोपानारोहण के समान शनैः शनैः अतिक्रमण करके अंत में वे पूर्णज्ञानी होकर मुझको प्राप्त कर लेते हैं । इस कारण स्वभावसिद्ध ज्ञान के क्रमविकाश से पूर्ण, ये सातों ज्ञानभूमियाँ मेरी परासिद्धि की कृपा से, मेरे स्वरूप ज्ञानप्राप्ति की अत्यंत कारण-रूपा हैं ॥ ३३-३५ ॥

सातों ज्ञानभूमियों में से प्रथमा ज्ञानदा, द्वितीया सन्यासदा, तृतीया योगदा, चतुर्थी लीलोन्मुक्ति, पंचमी सत्पदा, षष्ठी आनंदपदा और सप्तमी परात्परा है ॥ ३६ - ३७ ॥ जब तक जीव सप्त अज्ञानभूमियों का अतिक्रमण नहीं करते, तब तक प्रथम ज्ञानभूमि ज्ञानदा की प्राप्ति नहीं होती ॥ ३८ ॥ जहाँ उद्भिजों के चिदाकाश में प्रथम अज्ञानभूमि है, वहाँ स्वेदजों के चिदाकाश में वह द्वितीय अज्ञानभूमि कहीं गई है ॥ ३९ ॥ अंडजों के चिदाकाश में तृतीय अज्ञानभूमि है और जरायुज पशुओं के चिदाकाश में वह चतुर्थ है ॥ ४० ॥ परंतु पांच-कोशों के पूर्णता की अधिकारिणी मनुष्ययोनि में ही, शेष तीनों अज्ञानभूमियों का अधिकार रखती है ॥ ४१ ॥ वे ही तीनों उत्तम, मध्यम और अधम अज्ञानभूमियाँ कहलाती हैं, श्रेष्ठ ब्राह्मणों! मैं उनको स्पष्टरूप

से कहता हूँ सुनो ॥ ४२ ॥ इन्हीं तीनों अज्ञानभूमियों के समूल निराकरण के लिए वेद स्वयं मूर्त्तिधारण करके प्रवृत्त हुए हैं ॥ ४३ ॥ अधम अज्ञानभूमि में जब तक मनुष्य फंसा रहता है, उसको अपराध करने पर तिर्यक् योनि की प्राप्ति दंडरूप से हुआ करती है ॥ ४४ ॥ और हे ब्राह्मणों, मध्यम अज्ञानभूमि के अधिकारी मनुष्यों को पितृलोक, नरलोक और सुखदुःखपूर्ण मृत्युलोक की प्राप्ति बार-बार होती है एवं सर्वोन्नत अज्ञानभूमि उर्द्ध स्वर्गलोक प्रदानकारी है ॥ ४५ - ४६ ॥

अधम अज्ञानभूमि-प्राप्त-मनुष्य, नास्तिक, देहात्मवादी, अशुचि और अनार्य होते हैं ॥ ४७ ॥ परंतु हे ब्राह्मणों, मध्यम अज्ञानभूमि के अधिकारी मनुष्य, आस्तिक होने के कारण देह से आत्मा की पृथकता पर सर्वथा विश्वास करते हुए भी, सद्विचार-परायण होते हुए भी, महामूढ ऐहलौकिक इन्द्रियसुख में अत्यंत मग्न होकर, पारलौकिक सुख को भूले रहते हैं । हे ब्राह्मणों, केवल उत्तम अज्ञानभूमि के पुण्यवान् अधिकारी, आत्मा से अतिरिक्त मेरी शक्ति का अस्तित्व मानकर, स्वर्गीय सुख के अधिकारी हुआ करते हैं ॥ ४८ - ५१ ॥ अधम अज्ञानभूमि तमप्रधान, मध्यम अज्ञानभूमि तम-रजप्रधान और उत्तम अज्ञान भूमि रजसत्त्वप्रधान कही गई है । इसके अनंतर हे ब्राह्मणों, शुद्ध सत्त्व के क्रमविकाश-स्थलरूपी-पुण्यवान्-मनुष्यों के चित्ताकाश में देवदुर्लभ सप्तज्ञानभूमियों के अधिकार, क्रमशः स्वभाव से ही उदय होते हैं, और क्रमशः ये सातों ज्ञानभूमियाँ साधक के अंतःकरण में शुद्ध सत्त्व की भलीभांति और निरंतर वृद्धि करती हुई, नित्य और गुणातीत कैवल्यपद में निश्चय पहुँचा देती हैं ॥ ५२ - ५६ ॥

"मुझे जो कुछ जानने योग्य था सो सब कुछ जान लिया है", ऐसी बुद्धि होना प्रथम ज्ञानभूमि का अनुभव कहा गया है ॥ ५७ ॥ "मुझे जो त्यागना था सो त्याग दिया", यह दूसरी ज्ञानभूमि का अनुभव माना गया है । "मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी सो प्राप्त करली है", यह तीसरी ज्ञानभूमि का अनुभव है ॥ ५८ ॥ "यह सब माया की ही लीला मुझे दिखाई दे रही है और मुझे उसमें मोहित नहीं होना" यह चतुर्थ ज्ञानभूमि का अनुभव है ॥ ५९ ॥ "जगत् ही ब्रह्म है" यह पंचम ज्ञानभूमि का अनुभव कहा गया है ॥ ५९ ॥ "ब्रह्म ही निश्चय ही यह जगत् है" यह षष्ठ ज्ञानभूमि का अनुभव कहा गया है ॥ ६० ॥ और, "मैं अद्वितीय निर्विकार सच्चिदानंदमय ब्रह्म हूँ", ऐसी बुद्धि सप्तम ज्ञानभूमि का अनुभव माना गया है ॥ ६१ ॥ इस भूमि को प्राप्त करके ही साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, हे मुनिश्रेष्ठों, इसमें कुछ संदेह नहीं ॥ ६२ ॥ हे महर्षियों! श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप, ये ही त्रिविध पुरुषार्थ कहे गये हैं ॥ ६३ ॥ मुमुक्षुओं को मेरे पास अच्छी तरह पहुँचने के लिए इन्हीं त्रिविध पुरुषार्थों से युक्त, सातों ज्ञानभूमियों की साधनशैलियाँ सात सोपानरूप हैं । जिस प्रकार किसी राजभवन की छत पर चढने के लिए पौडियाँ होती हैं, उसी प्रकार स्वरूपज्ञान में पहुँचने के लिए तटस्थज्ञान की ये सात ज्ञानभूभियाँ सात पौडियों के समान हैं ॥ ६४ - ६६ ॥

हे तत्त्वजिज्ञासु ब्राह्मणों ! ज्ञानदानाम्नी प्रथमज्ञानभूमि में वे मुमुक्षु अंतर्दृष्टि प्राप्त करने लगते हैं ॥ ६७ ॥ उस समय जिज्ञासु पंडितगण मेरे स्थूल अवयवों को ही परमाणुरूप से सर्वथा नित्य जानकर, और मेरे उन्हीं स्थूल अवयवरूप विभागों को षोडश संख्या में विभक्त देखकर ही, वाद की सहायता से, अथवा पर्यालोचना-दृष्टि के द्वारा, सृष्टि को देखकर और मुझको कुलाल (अर्थात् कुम्हार) के समान केवल उस सृष्टि के कर्तारूप से ही अनुमान करने में समर्थ इस होते हैं ॥ ६८ - ७० ॥ इसी प्रथम ज्ञानभूमि में तत्त्वज्ञानी के हृदयरूप क्षेत्र में आत्मज्ञानरूप बीज का अंकुर निश्चय उत्पन्न हो जाता है ॥ ७१ ॥ इस कारण ज्ञानी लोग इस ज्ञानभूमि को ज्ञानदा कहते हैं क्योंकि यह ज्ञानभूमि मुमुक्षु को नित्य ज्ञान प्रदान करती है ॥ ७२ ॥ ज्ञानभूमि में पहुँचे हुए और किसी न किसी प्रकार से मेरी उपासना में नियमपूर्वक लगे हुए मुमुक्षुओं के चित्त में ज्ञानवायु से भलीभांति कंपाया हुआ अज्ञान-वृक्ष का मूल सर्वथा शिथिल हो जाता है ॥ ७३ - ७४ ॥ हे महर्षियों ! सन्न्यासदा-नाम्नी द्वितीय ज्ञानभूमि में स्थित मुमुक्षु ही मेरे स्थूल शरीर को कुछ निकट से देखते हुए मेरे स्थूल अवयवों में ही सूक्ष्म शक्तियों का निरंतर अनुभव करते हुए और धर्माधर्म का निर्णय करके, अधर्म के त्याग करने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं । इसी कारण इस दूसरी ज्ञानभूमि का नाम सन्न्यासदा हैं ॥ ७५ - ७७ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! योगदा-नाम्नी तीसरी ज्ञानभूमि में मुमुक्षु चित्त-वृत्ति-निरोध करने का उत्तम अभ्यास करते हुए संयम के द्वारा इस मेरी शक्ति को और एकतत्त्व के अभ्यास द्वारा मुझको अलग-अलग रूप से देखने में जब प्रवृत्त होते है, तब साधकों में सूक्ष्मदृष्टिरूपी अलौकिक प्रत्यक्ष का उदय होता है ॥ ७८ - ८० ॥

इसी कारण विज्ञ-लोग इस ज्ञानभूमि को योगदा कहते हैं, क्योंकि यह चित्त-वृत्ति-निरोधरूपी योग को भलीभांति प्रदान करती है ॥ ८१ ॥ और हे विज्ञवरों ! लीलोन्मुक्ति-नाम्नी चतुर्थी ज्ञानभूमि में पहुँचकर ही मेरी लीलामयी-अघटनघटनापटीयसी-त्रिगुणात्मिका प्राकृतिक तत्त्व को, मुमुक्षु निश्चय ही पहचान लेते हैं । उस समय लीलामयी प्रकृति अपनी लीला में उन साधकों को पुनः नहीं फंसा सक्ती । इस कारण इस ज्ञानभूमि को बुधगणोंने लीलोन्मुक्ति कहा है ॥ ८२ - ८४ ॥ सत्पदानाम्नी पंचमी ज्ञानमूमि में पहुँचकर वे मुमुक्षु जब अपने ही अंतःकरण में अभेद ज्ञान को प्राप्त करने लगते हैं, उसी समय उनकी अनुभवशक्तियाँ विशेष बढ़ने लगती हैं, इसमें विचारने की बात नहीं हैं ॥ ८५ - ८६ ॥ हे विप्रो ! एकत्व के कारण मुझमें और मेरी प्रकृति में जो अभेद है अथवा मेरे कारणस्वरूप और कार्यस्वरूप में जो अभेद है, वैज्ञानिक दृष्टि के द्वारा उसको वे स्पष्टरूप से समझने में समर्थ होते हैं और जगदुत्पत्तिकारक कर्म का रहस्य अच्छी तरह समझकर जगत् ही मैं हूँ, इस विचार से मुझको देखकर इस कार्य-ब्रह्म की सत्यता जान लेते हैं ॥ ८७ - ८९ ॥

इसी कारण इस ज्ञानभूमि को ही विद्वान् लोग सत्पदा कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा लोगों को सद्भाव का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ १० ॥ और हे विप्रो ! आनंदपदानाम्नी षष्ठी ज्ञानभूमि में पहुँचकर ही

मेरे मुमुक्षु भक्त मुझमें जड़मय कर्म-राज्य और चेतनमय दैव-राज्य को एकाधार में देखने में जब समर्थ होते हैं तब वे मेरे रससागर में उन्मज्जन-निमज्जन करते हुए, "मैं ही जगत् हूँ" इस प्रकार मुझको देखकर अद्वैत आनंद का उपभोग करते हैं ॥ ९१ - ९३ ॥ इसी कारण इस ज्ञानभूमि को बुधगण आनंदपदा कहते हैं क्योंकि इस भूमि में साधक आनंद प्राप्त करते हैं ॥ ९४ ॥ हे विप्रो ! परात्परा-नाम्नी सप्तमी और अंतिम ज्ञानभूमि में, मेरे ज्ञानी भक्त पहुँचकर कार्य-कारण (अर्थात् cause-effect) की भेद-दृष्टि का लय करके, मेरे स्वरूप में लय हो जाते हैं और भेद-ज्ञान के लय होने से ही उनके विशुद्ध अंतःकरण में, सर्वभूतों में ऐक्यप्रदर्शक, अज्ञानांधकारोत्पादक और अद्वैतभाव-उत्पादक अविभक्त ज्ञान का उत्तमरीति से उदय होता है इसमें संदेह ही नहीं । उस समय मेरे ज्ञानी भक्तों में और मुझमें भेदभाव नष्ट हो जाता है ॥ ९५ - ९८ ॥

वे मेरे स्वरूप में, स्वरूपज्ञान के अवलंबन से, विलीन हो जाते हैं, इसी कारण इस भूमि को विद्वान् लोग परात्परा कहते हैं ॥ ९९ ॥ साधारण दृष्टि से इन सातों ज्ञान-भूमियों में कोई-कोई तत्त्वजिज्ञासु, जो विरोध भाव की शंका करते हैं, वह ठीक नहीं है ॥ १०० ॥ हे विज्ञानविद् ब्राह्मणों ! सप्त अज्ञानभूमियों और सप्त ज्ञानभूमियों से ही भलीभांति पूर्ण, परमाद्भुत महाकाश गोलक है । उस गोलक के नीचे के सात स्तर सप्त छाया से पूर्ण हैं ॥ १०१ - १०२ ॥ और ऊपर के सात स्तर सप्त ज्योति से पूर्ण हैं । नीचे के चार छाया स्तर, चतुर्विध भूतसंघ के समिष्टि चिदाकाश से पूर्ण हैं । उसके ऊपर की तीन अज्ञानभूमियों के स्तर तथा सात ज्ञान-भूमियों के स्तर, ये दश स्तर दशविध अधिकारों को धारण करके समस्त मानव और दैवपिंड में व्याप्त हैं । इस कारण हे विज्ञानविद्वरों ! इन दशों अधिकार में ही निम्न से निम्नतम और उच्च से उच्चतम सब हितकर दार्शनिक अधिकार संमिलित हैं यह निश्चय है ॥ १०३ - १०७ ॥ मेरी वह अघटनघटनापटीयसी प्रकृति मुझसे व्यक्ता होकर इस महाकाशगोलक में प्रकाशित है ॥ १०८ ॥ हे विप्रो ! वह ही, विद्यारूप से ऊपर की सप्त भूमिकाओं में और अविद्यारूप से नीचे की सप्त भूमिकाओं में परिव्याप्त है ॥ १०९ ॥ इन सप्त छाया और सप्त ज्योतियों से पूर्ण महाकाश गोलक को अधाररूप से मेरी जडा-प्रकृति नित्य ही धारण कर रही हैं और मैं शुद्ध चिन्मय होकर उसके ऊपर स्थित हूँ ॥ ११० - १११ ॥ इस अध्यात्मगोलक का दर्शन जिस ज्ञानवान् को होता है वह ही सर्वथा मेरे दर्शन करने में समर्थ होता है ॥ ११२ ॥

वैदिक, दर्शनोक्त ज्ञान ही इसके लिए नेत्र-स्वरूप हैं, निःसंदेह, मैं सत्य कहता हूँ ॥ ११३ ॥ अतः, जो सप्त ज्ञानभूमियों के सप्त दर्शनशास्त्रों में विरोधकल्पना करते हैं, वे मेरे ज्ञानी भक्त नहीं हैं ॥ ११४ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! आप लोग मेरे ज्ञानी-भक्त होते हुए अविभक्त, विकारहीन और अद्वैत ज्ञान को प्राप्त करके परासिद्धि की कृपादृष्टि से आश्वासित होकर, मत्सायुज्य को प्राप्त करके कृतकृत्यता को प्राप्त हों ॥ ११५ - ११६ ।

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासंबंधी योग-शास्त्र का धीशर्षि संवादात्मक

ज्ञानभूमिनिरूपण नाम का तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

## ४. धर्मविज्ञाननिरूपण

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥

हे सर्वज्ञ ! ज्ञानभूमियों का महान् अद्भुत रहस्य और अविभक्त ज्ञान के प्रकाश करनेवाली शैली को सुनकर हमारी सब शंकाएँ दूर हो गई हैं, इसमें संदेह नहीं । कृपा करके हमको यह भी आज्ञा कीजिये कि अज्ञानभूमियों के प्रभाव से बचाकर, मुमुक्षु-साधक-जीवों को आनंदपूर्वक ज्ञानभूमियों में कौन पहुँचाता है ? ॥ २ - ४ ॥ किन उपायों द्वारा मुमुक्षु-साधक अज्ञानभूमियों को अतिक्रमित करके शीघ्र ज्ञानभूमियों को प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥ तथैव, सातों ज्ञानभूमियों में क्रमशः अग्रसर होते हुए, अंत में सच्चिदानंदस्वरूप आपको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

गणपति बोले ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मणों ! सर्व-लोक-हितकर, ब्रह्मांडपिंडात्मक सृष्टि का धारक और अभ्युदय और मुक्ति विधायक, यह महान धर्म ही मनुष्यों को अज्ञानभूमियों से बचाकर ज्ञानभूमियों में निरंतर ही पहुँचा देता है ॥ ८ - ९ ॥ और क्रमशः अभ्युदय को सम्यक् प्रदान करता हुआ, अंतिम ज्ञानभूमि में पहुँचाकर तदनंतर कैवल्य प्रदान करता है ॥ १० ॥ हे विप्रो ! धर्म का मैं ही स्थिति-स्थान हूँ और धर्मरूपा मेरी ही सनातनी शक्ति है जो विराट् सृष्टि के प्रवाह को निश्चय ही धारण किये हुए है । हे महर्षिगण ! निश्चय ही मेरी सत्त्वगुणमयी शक्ति, धर्म है, इस विषय में कोई संदेह नहीं है, हे विप्रपुंगवो ! मेरी शक्ति त्रिगुणात्मिका है ॥ ११ - १३ ॥ आकर्षण-शक्ति विशिष्ट राजसिक-शक्ति कहलाती है और विकर्षण-शक्ति विशिष्ट तामसिक-शक्ति कहलाती है ॥ १४ ॥ और उन दोनों शक्तियों का इस संसार में समन्वय करनेवाली मेरी जो सात्त्विक शक्ति है वही धर्म है इसमें संदेह नहीं ॥ १५ ॥ यही धर्म की धारिका-शक्ति, परमाणु से लेकर ब्रह्मांड के विस्तार पर्यंत परिव्याप्त है ॥ १६ ॥ धर्म की धारिका-शक्ति के प्रभाव से ही सब सूर्य-चंद्रादि ग्रह-उपग्रहादि और नक्षत्रमंडल मेरे विराट् देह में चहुदिशा अपनी-अपनी कक्षा में निरंतर परिभ्रमण करते हैं ॥ १७ - १८ ॥

और परस्पर को सहायता देकर सृष्टि की रक्षा करते हैं । धर्म की उत्तम धारिका-शक्ति देवासुर संग्राम के द्वारा दैवी सृष्टि की पवित्रता सम्पादन करती हुई देवताओं और असुरों को अपने-अपने लोकों में सुप्रतिष्ठित रखती है ॥ १९ - २० ॥ हे विज्ञो ! मेरी प्रकृति के धर्ममय मातृभाव के द्वारा ही निरंतर पालित-पोषित होकर जीव उद्भिज्ज से स्वेदज, स्वेदज से अंडज, अंडज से जरायुज, और जरायुज योनि से मनुष्योनि में पहुँचकर अवश्य ही कैवल्यमार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग के अधिकारी बन जाते है ॥ २१ - २३ ॥ मैंने केवल मनुष्यों को ही धर्माधर्म का ज्ञान प्रदान करके

उनको कैवल्यमार्ग का पथिक बना दिया है ॥ २४ ॥ हे विप्रश्रेष्ठो ! यह धर्म की धारिका-शक्ति ही मनुष्यों की क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति कराकर अंत में उनको ज्ञानभूमि का अधिकारी बनाकर, शनैः शनैः कैवल्यपद प्रदान करती है ॥ २५ - २६ ॥ धर्म, सर्व-व्यापक, सर्व-जीवहितकारी, सर्व-रक्षक सबको अभ्युदय प्रदान करनेवाला, और सबके हृदय में मेरे स्वरूप का प्रकाश साधारण करनेवाला, एवं साधक जीवों को शिवत्व प्रदानकारक है ॥ २७ - २८ ॥

हे ब्राह्मणो ! साधारण और विशेष रूप से दो प्रकार का यह सार्वभौमस्वरूपी धर्म कहा गया है यह निःसंदेह है ॥ २९ ॥ उनमें से धर्म सर्व-जीव-हित-तत्पर है और अधिकार विशेष के केन्द्रों से युक्त, जीवों का विशेष धर्म, निश्चय ही परम हित सम्पादन करता है । मैं इस समय साधारण धर्म का अंगवर्णन करता हूँ, आप सावधान चित्त से सुनो । चौबीस तत्त्वों के अनुरूप पूर्णावयव, साधारण धर्म के चौबीस अंग हैं । दान त्रिविध कहा गया है, यथा – अर्थदान, विद्यादान और अभयदान ॥ ३० - ३३ ॥ तपोवेत्ता महात्माओं ने तप के भी शारीरिक, वाचनिक और मानसिक रूप से तीन भेद कहे हैं ॥ ३४ ॥ कर्मयज्ञ नित्य नैमित्तिक काम्य और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत रूप से षड्विध है ॥ ३५ ॥ उपासनायज्ञ के नौ भेद हैं और वे सब भक्ति और योगमूलक हैं ॥ ३६ ॥ उपासना का योग स्थूल-देह है यह निःसंदेह है । हे ब्राह्मणों ! भक्ति उसी की ही प्राणरूपिणी है ॥ ३७ ॥ योग के विचार से उपासना मंत्र, हठ, लय और राज इन चतुर्विध भेदों से निश्चय ही चतुर्विध जाननी चाहिये ॥ ३८ ॥ भक्ति के भेद से उपासना पंचविध है । हे ब्राह्मणों ! राग, द्वेष और अशुचि से युक्त मेरे मूढ भक्तगण आसुरी शक्तियों में ही मेरी सदा उपासना करते हैं । शुभ-फलेच्छु-सकाम-भक्तगण मेरी दैवी शक्तियों में ही निरंतर मेरी उपासना करते हैं । विषयानन्द में ही ब्रह्मानन्द का अनुभव करनेवाले मेरे उन्नत भक्तगण स्वभाव से ही मेरे लीलाविग्रह की उपासना में रतात्मा होते हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ३९ - ४२ ॥ और ज्ञानी भक्तगण मेरे सगुणरूप तथा निर्गुणरूप में मेरी उपासना करके परमानन्दसागर में मग्न होते हैं ॥ ४३ ॥

हे महर्षिगण ! श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप से ज्ञान-यज्ञ के तीन भेद कहे गये हैं ॥ ४४ ॥ धर्म के ये स्वभावसिद्ध अंग, सर्व-जीव-हितसाधक कहे गये हैं । ॥ ४५ ॥ क्योंकि लोक में रुचि विभिन्न है और सामर्थ्य भी विभिन्न है, इस कारण साधारण धर्म सर्व-प्राणि-हितप्रद है ॥ ४६ ॥ यदि चौबीस अंगो से पूर्ण धर्म के सर्व-लोक-हितकर स्वरूप को धर्म-जिज्ञासु जान जाएँ तो वे उदार-हृदय होकर सब प्राणियों के ही गुरू की पूज्यपदवी को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४७ - ४८ ॥ युगयुग में जितने ही धर्ममार्ग पैदा होंगे वे सब साधारण धर्म के इन अंगों में से कुछ अंगों का आश्रय लेकर ही निःसंदेह कृतकृत्यता को प्राप्त होंगे । हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! अब तक संसार में जितने भी धर्ममार्ग उत्पन्न हुए हैं वे ऐसे ही कृतार्थता को प्राप्त हुए हैं । हे विप्रो ! इसमें कुछ संदेह नहीं है ॥ ४९ - ५१ ॥

यही शाश्वत धर्म की निश्चय पूर्णता है, यही महत्त्व है और निश्चय यही पितृभाव है ॥ ५२ ॥ जो धर्म अन्यधर्मों से द्वेष न करे, अथवा अन्यधर्मों को कभी बाधा न दे और सबको यथाधिकार, उभयविध, अभ्युदय प्रदान करे और सबको निःश्रेयस का मार्ग बतावे, वही सनातन धर्म है, यही उपनिषद् है ॥ ५३ - ५४ ॥ हे विप्रो ! विशेष धर्म का स्वरूप अतिविचित्र है । जैसे आर्य जाति के लिए वर्ण और आश्रमधर्म परमहितकर कहा गया है, वैसे अनार्य जाति के लिए वह उपयोगी नहीं है इस कारण, "वर्ण" और "आश्रम धर्म" विशेष धर्म है इसमें संदेह नहीं ॥ ५५ - ५६ ॥ हे महर्षियों ! वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रम धर्म निवृत्ति-पोषक है । आर्य जाति को ये दोनों धर्म ही चिरकाल पर्यंत जीवित रखकर संकरता दोष और पतन से बचा जाता है ॥ ५७ - ५८ ॥

हे ब्राह्मणों ! तप मूलक नारी-धर्म और यज्ञ मूलक पुरुष-धर्म ये दोनों भी विशेष धर्म हैं ॥ ५९ ॥ प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, शाक्तधर्म, शैवधर्म, वैष्णवधर्म, सौर्यधर्म और आद्वपर्म आदि, ये सब विशेष धर्म के अंतर्गत ही हैं ॥ ६० - ६१ ॥ हे ब्राह्मणों ! विशेष धर्मों में सबसे प्रधान, श्रेष्ठ, व्यापक, और प्रथम धर्म सदाचार है ॥ ६२ ॥ क्योंकि धर्मानुकूल सब शारीरिक व्यापारों को सत्पुरुष सदाचार कहते हैं । यह निश्चय ही पुण्यवर्द्धक है ॥ ६३ ॥ विशेष धर्म का ही अंतिम अधिकार यह सन्यास है यह निश्चित है ॥ ६४ ॥ हे विज्ञवरो ! केवल कर्म के त्याग से सन्न्यास नहीं होता अपितु वासना के त्याग से ही सन्न्यास की सिद्धि होती है । विशेष धर्म का अधिकार अति-विचित्र और अति-विस्तृत होने से, अपने स्थूल अंग के संचालनरूपी-सदाचारमय-स्थूलातिस्थूल क्रिया से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म-ब्रह्मसद्भाव की प्राप्ति के कारणरूपी सन्न्यास तक उसका संबंध है ॥ ६५ - ६८ ॥ हे विप्रो ! वर्णाश्रम आदि विशेष धर्मों के पालन द्वारा ही मेरे भक्त क्रमशः अज्ञानभूमियों से बचकर ज्ञानभूमि के पथिक बनते हैं । क्रमशः साधारण धर्म जो सार्वभौम, सत्, सर्वजीवहितकारी, मोक्षसाधक, सर्वशक्तिमय, श्रेष्ठ, व्यापक, और दिव्य है, उस स्वरूप को जीवधारी साधक, यहाँ जितना अनुभव करते जाते हैं, उतनी ही उन्नत से उन्नततर ज्ञानभूमि में वे आरोहण करते जाते हैं ॥ ६९ - ७२ ॥ अंत में वेदांतसिद्धांत के श्रेष्ठ अनुभव को शीघ्र प्राप्त करके मत्सायुज्य को प्राप्त करते हैं और इसके बाद कृतार्थ हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासंबंधी धीशर्षि संवादात्मक योग शास्त्र का धर्मविज्ञाननिरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

## ५. वेदांतनिरूपण

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥ हे जगद्गुरो ! हे आदिगुरो ! हे वेदांतकृत् ! हे पूज्य ! हे विभो ! हे देव ! आपकी कृपा के उदय से ही हम लोगों ने वेदों को प्राप्त किया था ॥ २ ॥ और इस समय आपके

चलत्-तरंग अपार कृपारूपी समुद्र के तटाश्रय से हम लोगों ने आप से वेद के अनेक रहस्य सुने हैं ॥ ३ ॥ जिससे कृतकृत्यता को प्राप्त करते हुए आज यही प्रार्थना करते हैं कि ज्ञानरत्न के समुद्र, वेदों में, जिसको वेदांत कहा है ॥ ४ ॥ उसी सर्वोत्तमज्ञान का हमको उपदेश दें, जिससे हम निश्चित रूप से परम शांति प्राप्त करें ॥ ५ ॥ हे विज्ञवरों, मैं तुमसे सब उपनिषदों के साररूप और वेद-समुद्र के अमृतरूप, वेदांतयोग का वर्णन करता हूँ जिसके निदिध्यास, श्रवण, मनन द्वारा मुमुक्षु, ज्ञान समुद्र को पार करके त्रिताप से मुक्त होते हुए, अव्यय आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं । हे विप्रश्रेष्ठों ! इसमें कोई संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ७ - ६ ॥

मेरी प्रकृति के स्वभाव से उत्पन्न सहज कर्म के जाल में फंसने से, और अनादि अविद्या के प्रभाव से, जीव का चिज्जड़ग्रंथिरूप-जीवत्व प्रकट होता है । यह जीवभाव-प्रकाशिनी अविद्या, अनादि है ॥ १० - ११ ॥ हे विज्ञो ! त्रिगुणमयी प्रकृति के स्वाभाविक चांचल्यहेतु यह कर्मप्रवाह भी अनादि है ॥ १२ ॥ क्योंकि, सहज कर्म पाश, सदृश और प्रकृति के स्वभाव के साथ उत्पन्न कहा गया है इसमें संदेह नहीं ॥ १३ ॥ भूतभावोद्भवकर विसर्गरूपी सहजकर्म द्वारा इस चतुर्विधभूतसंघ की उत्पत्ति स्वतः ही होती है ॥ १४ ॥ हे महर्षिगण ! अविद्या के प्रभाव से जो दृढ अज्ञानमयी चिज्जड़-ग्रंथि उत्पन्न होती है वही संसाररूपी भंवर में डालनेवाला जीवभाव है । हे विज्ञ विप्रो ! अविद्योपहित चैतन्य, मेरी प्रकृति की सत्सत्ता के प्रभाव से, व्यष्टि-अहंकार (अर्थात् परमात्मा का वह स्वत्व जो व्यक्ति-विशेष बनकर अभिव्यक्त होता है) के चक्र में पड़कर, द्वैतभाव-उद्बोधक जीवत्व को प्राप्त करता है ॥ १५ - १७ ॥

पुनः, हे ब्राह्मणों ! मेरा ज्ञानी भक्त विद्या की सहायता प्राप्त कर नित्य स्थित कैवल्यपद को प्राप्त करता हुआ मुझमें ही मिल जाता है ॥ १८ ॥ हे ब्राह्मणों ! मेरे भक्त अविद्या के दृढ जाल को और दुर्दम कर्म के बंधन को मेरे प्रभाव से अतिक्रमण कर लेते हैं ॥ १९ ॥ क्योंकि मेरी प्रकृति त्रिगुणमयी है अतः सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण उसमें स्वभावतः रहते हैं ॥ २० ॥ हे ब्राह्मणों ! प्रकृति, रजोगुण से उत्पत्ति, सत्त्वगुण से निरंतर स्थिति, और तमोगुण से लय, अर्थात् संहार, स्वभावतः करती रहती है ॥ २१ ॥ प्रकृति के ये तीनों गुण स्वभावसिद्ध होने पर भी मेरे तम और सत्त्व दो गुण ही प्रधान हैं ॥ २२ ॥ रजोगुण प्रवृत्ति-पर (प्रवृत्ति की ओर ध्यान देनेवाला) और सृष्टि-कारी होने के कारण, तमोगुण और सत्त्वगुण का केवल सहायक है ॥ २३ ॥ इसी कारण हे ब्राह्मणों, मेरी प्रकृति जब तमोमयी रहती है तब उसको विद्या और अविद्या के भेद को जाननेवाले अविद्या कहते हैं ॥ २४ ॥ और जब वह शुद्ध सत्त्वमयी रहती है तब संसार में तत्त्वज्ञानी उसको विद्या कहते हैं ॥ ५ ॥ सत्त्व में तम का परिणाम और तम में भी सत्त्व का परिणाम अवश्य होता हैं इसमें संदेह नहीं ॥ २६ ॥ क्योंकि रजोगुण ही उभय सहायक है, और मेरी प्रकृति स्वभाव से ही परिणामशीला है ॥ २७ ॥ हे महर्षि गण ! इन दोनों गुणों का आपस में यह परिणाम स्वभावसिद्ध जीवत्व है अतः, यह सिद्धांत आश्चर्यकारक नहीं है ॥ २८ ॥ जब

पूर्ण तमोगुण में स्वभाव से सत्त्व परिणाम उत्पन्न होता है, तब, वहीं चिज्जड़ग्रंथि उत्पन्न होकर सुस्पष्ट प्रकाशभाव को प्राप्त होती हुई, जड़ परमाणुओं में प्रत्यक्ष प्रामाण्यबोधक उत्पन्न करती है ॥ २९ - ३० ॥

हे महर्षिगण ! उद्भिज्जयोनि में वह चिज्जड़ग्रंथिरूपिणी-चेतनसत्ता, क्रमविकाश को प्राप्त करती हुई, स्वेदजयोनि में पहुँचती है । स्वेदजयोनि से अंडज योनि में, अंडजयोनि से जरायुजयोनि में, और जरायुजयोनि से मनुष्य योनि में रूपिणी प्रकृति की कृपाप्राप्त होकर स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाती है ॥ ३१ - ३३ ॥ हे विज्ञ महर्षियों ! यह जीवों की उत्पत्ति और मुक्ति का अद्भुत और गूढ़ रहस्य मैंने आप लोगों से वर्णन किया ॥ ३४ ॥ यह सब उपनिषदों में भी गुप्त है । श्रीगुरु की कृपा बिना कोई भी इसको प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ३५ ॥ अघटनघटनापटीयसी मेरी प्रकृति अविद्यारूप से जीव का बंधन करती है और पुनः वही सत्त्वमयीं बनकर विद्यारूप धारण करके जीवों को उत्तम कैवल्यपद प्रदान करती है ॥ ३६ - ३७ ॥ और जो जीव स्वाधीनता को प्राप्त करके विद्या की उपासना नहीं करते हैं हे ब्राह्मणों, अविद्या से आच्छन्नचित्त वे जीव, निश्चय इस त्रिगुण परिणाम के चक्र में अनंतकाल पर्यंत त्रिताप को भोग करते हुए निरंतर भ्रमण करते रहते हैं ॥ ३८-३९ ॥ हे द्विजवरो ! विशेष लक्षणद्वारा जीव और ब्रह्म की सत्ता का अनुभव, और मायाप्रपंच रूपी सृष्टि का रहस्य, आपसे मैं वर्णन करता हूँ । सावधान होकर सुनो जिससे आप लोगों को ब्रह्म और जीव का सम्यक् ज्ञान होगा ॥ ४० - ४१ ॥ हे महर्षिगण ! स्थूल, सूक्ष्म और कारण जो शरीर से पृथक् हैं, पंचकोषों से जो अतीत हैं, तीनों अवस्थाओं के जो साक्षीरूप हैं, चतुर्विंशति (अर्थात् चौबीस) तत्त्वों के जो आधार हैं और अविद्या तथा मायारूप उपधियों के द्वारा प्रतीयमान जो जीव और ईश्वर इन दोनों से जो भिन्न हैं वही सच्चिदानंदस्वरूपवान् ब्रह्म हैं, ऐसा बुधगण कहते हैं ॥ ४२ - ४४ ॥ हे तत्त्वज्ञानियों ! अब मैं यहाँ इन सब लक्षणों का यथाक्रम वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ ४५ ॥ हे विप्रो ! पंचीकृत पंच महाभूतों से बना हुआ, कर्म से उत्पन्न और सुखदुःखादि भोगों का जो स्थान है, अर्थात् जिसके द्वारा सुखदुःखादि भोग होते हैं, एवं वर्त्तमान हैं, उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं, क्षय होते हैं और नाश होते हैं, इन छः भाव-विकारों (स्टेट-ट्रांस्फार्मेशन) से जो युक्त है, वह सर्वथा क्षणभंगुर, स्थूल शरीर है हे ब्राह्मणों । इसको स्थूल शरीर का स्पष्टलक्षण जानो ॥ ४६ - ४८ ॥

हे विप्रो ! अपंचीकृत पंच महाभूतों से बना हुआ, कर्म से उत्पन्न और सुखदुःखादि भोगों का जो साधनरूप है, एवं पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, पांच वायुओं, एक मन और एक बुद्धि, इस प्रकार सत्रह कलाओं (कला - phase) से युक्त होकर जो स्थित हैं वह सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ सूक्ष्म शरीर है ॥ ४९ - ५१ ॥ हे विज्ञो ! अनिर्वचनीया, अनादि, अविद्यारूप, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का एक मात्र ही कारण है, और वह जीवत्वप्रतिपादक कारण शरीर है, जो अपने स्वरूप का अज्ञानस्वरूप एवं निर्विकल्प रूप है ॥ ५२ - ५३ ॥ अनादि जीवप्रवाह की अलग-

अलग जीव सृष्टि के प्रारंभ में, जड़् और चेतन की ग्रंथि बांधनेवाली जो प्रथम दशा पैदा होती है, वही जीव का कारण शरीर है । सूक्ष्म-शरीर के संस्कारो में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और इसी कारण जीवों को अपने-अपने संस्कारों के अनुसार अलग-अलग नाना विचित्रतामय स्थूल शरीर धारण करने पड़ते हैं ॥ ५४ - ५६ ॥ परंतु हे विप्रो ! सर्वथा अनादि-अविद्या मूलिका और दो शरीरों की मूलकारणरूपा एवं चिदात्मा को ढकनेवाली और विकारहीन जो दशा है, विद्वान लोग उसको कारणशरीर कहते हैं ॥ ५७ - ५८ ॥ हे विज्ञविप्रो ! आत्मा को अत्यंत आवरण करनेवाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय ये ही पांच कोष हैं इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ५९-६० ॥

हे विप्रो ! "कोश" शब्द से आच्छादन, छिलका, आवरण और तदर्थक अन्य शब्दों को समझना चाहिये ॥ ६१ ॥ जैसे प्याज में एक के ऊपर दूसरा छिलका रहता है उसी प्रकार जीव-शरीरों में पाँच कोश समझने उचित हैं ॥ ६२ ॥ हे विप्रवरो ! प्रथम आनंदमय कोश होता है, उसके ऊपर विज्ञानमय कोश होता है, उसके ऊपर मनोमय कोश होता है, उसके ऊपर प्राणमय कोश होता है और इन सबों के ऊपर ही अन्नमय कोश होता है ॥ ६३ - ६४ ॥ अन्न के रस से ही उत्पन्न होकर, अन्न के रस से ही उन्नति (वृद्धि ) को प्राप्त होकर और अन्न की रसरूपा पृथिवी में ही जो अंत में लय को प्राप्त होता है, वह अन्नमय कोश है, जिस को स्थूलशरीर कहते हैं । हे मुनिवरो ! सूक्ष्मदेह का लक्षण सुनिये ॥ ६५ - ६६ ॥ प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोशों का ही सूक्ष्म-शरीर होता है ऐसा वेद-पारगामी ब्राह्मणगण कहते हैं ॥ ६७ ॥ प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर "प्राणमय कोश" इस नाम को प्राप्त होते हैं ॥ ६८ ॥ एक ही मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर ही मनोमय कोश नाम से विद्वानों के द्वारा कहा जाता है ॥ ६६ ॥ एक ही बुद्धि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर विज्ञानमय कोश नाम को धारण करती है इसमें संदेह नहीं है ॥ ७० ॥

हे ब्राह्मणों, कारणशरीरभूता-अविद्या में ही स्थित, मलिन सत्त्व, आत्मस्वरूप का अज्ञानरूप और प्रिय मोद और प्रमोद, इन भावों से ही युक्त कोश विद्वानों द्वारा "आनंदमयकोश" कहा जाता है ॥ ७१ - ७२ ॥ और वही कारण-शरीर कहा गया है क्योंकि वह ही चौबीस तत्त्वों का कारण है ॥ ७३ ॥ अब इन पाँचों कोशों से संबंधयुक्त तीन अवस्थाओं का लक्षण मैं वर्णन करता हूँ सुनो ॥ ७४ ॥ जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था नामक तीन अवस्थाएँ हैं । श्रोत्रादि पंचज्ञानेन्द्रियों से शब्दादि विषय जहाँ भली-भाँति जाने जाते हैं, वह जाग्रदवस्था है । विद्वानों के द्वारा स्थूल शरीर का अभिमानी आत्मा, विश्व कहा जाता है ॥ ७५ - ७६ ॥ जाग्रदवस्था में जो देखने और सुनने में आता है उससे उत्पन्न, वासनासमूह के द्वारा जिस अवस्था में प्रपंच प्रतीत होता है, जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्यवर्त्तिनी वह अवस्था स्वप्नावस्था हैं । सूक्ष्मशरीर का अभिमानी आत्मा तैजस कहा जाता है ॥ ७७ - ७८ ॥ जिस अवस्था में "मैं कुछ भी नहीं

जानता था, सुखपूर्वक मैंने निद्रा ली" इस प्रकार का अनुभव, जाग्रदवस्था में जो याद दिलाती है, उसको तत्त्वज्ञानी "सुषुप्ति अवस्था" कहते हैं । कारण-शरीर का अभिमानी आत्मा "प्राज्ञ" कहा जाता है ॥ ७९ - ८० ॥ समष्टि स्थूल शरीर को ही विराट् कहते हैं इस कारण स्थूल-शरीर के देवता विश्व कहलाते हैं ॥ ८१ ॥ हे महर्षिगण ! सूक्ष्म-राज्य के, सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट देवताओं का शरीर, तेजोमय होता है, जिस कारण सूक्ष्म शरीर के अभिमानी देवता तैजस हैं । कारणशरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है इस कारण उसके अभिमानी देवता "प्राज्ञ" कहलाते हैं । अब मैं चौबीस तत्त्वों का वर्णन करता हूँ सुनो ॥ ८३ - ८४ ॥

हे महर्षिगण ! इन चौबीस तत्त्वों को कोई किसी प्रकार से वर्णन करता है, कोई किसी प्रकार से, परंतु ये सब मतान्तर मूल सिद्धांत के विरुद्ध नहीं हैं ॥ ८५ ॥ श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना और घ्राण, इनको वेदांतपारगामी विज्ञगण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८६ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! वाक्, पाणि-पाद, पायु और उपस्थ, इनको तत्त्वान्वेषिगण पंच कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८७ ॥ प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इनको प्राणतत्त्वानुचिंतक पंच प्राण कहते हैं ॥ ८८ ॥ प्राण वायु हृदय में रहता है । अपान वायु गुदे में स्थित रहता है । समान वायु नाभि में, उदान वायु कण्ठ में, और व्यान वायु सर्व शरीर में रहा करता है ॥ ८९ ॥ ज्ञानीगण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इनको पाँच तन्मात्रा कहते हैं ॥ ९० ॥ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप से अंतःकरण के चार भेद हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ९१ ॥ हे सज्जनों, ये ही चौबीस तत्त्व हैं । निःसंदेह मैं ही पुरुष रूप से पंचविंशतितम तत्त्व हूँ इस कारण तत्त्वज्ञानी गण मुझे तत्त्वातीत परमतत्त्व कहते हैं इसमें विस्मय न करो ॥ ९२ - ९३ ॥

अब इद्रियों के विषयों का वर्णन करता हूँ हे विप्रवरो ! आप लोग समाहित होकर सुनें ॥ ९४ ॥ श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श है, चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, रसनेन्द्रिय का विषय रस है और घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है इसमें संदेह नहीं । वागिन्द्रिय का विषय वक्तव्य है, पाणीन्द्रिय का विषय वस्तु ग्रहण है, पादेन्द्रिय का विषय गन्तव्य है, गुदेन्द्रिय का विषय मलत्याग है और उपस्थेन्द्रिय का विषय मूत्र-त्याग है ॥ ९५ - ९७ ॥ हे ब्राह्मणों ! मैं दो इन्द्रियों का एक गुह्य रहस्य आप लोगों से कहता हूँ, समाहित होकर सुनो ॥ ९८ ॥ जिह्वा में रसग्रहण और वाक्-शक्ति दोनों होने से वह अत्यंत ही प्रबल है ॥ ९९ ॥ उसी प्रकार पुरुषचिह्न और स्त्रीचिह्नरूपी उपस्थ और योनि में भी मूत्रत्यागरूपी कर्मेन्द्रिय का कार्य और और अतिप्रबल स्पर्शसुखरूपी ज्ञानेन्द्रिय का कार्य रहने से उनकी प्रबलता सर्वथा प्रसिद्ध है ॥ १०० - १०१ ॥ अंतःकरणचतुष्टय (चारों अंतःकरण विषयक) संकल्प करना, निश्चय करना, स्मरण करना और अहंकार करना यथाक्रम चार विषय हैं ॥ १०२ ॥

हे विज्ञमहर्षियों ! अब तत्त्वों के अभिमान को धारण करनेवाले, जो अधिपति कहे जाते हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सो दत्तचित्त होकर आप लोग सुने ॥ १०३ ॥ दिक्, वायु, अर्क, प्रचेता,

अश्विनी, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु, शिव, चंद्र, ब्रह्मा, रुद्र, और क्षेत्रज्ञ ये सब अधिपति हैं ॥ १०४ ॥ श्रोत्रेन्द्रिय की देवता दिशाएँ है, त्वगिन्द्रिय की देवता वायु है, चक्षुरिन्द्रिय की देवता सूर्य है, रसनेन्द्रिय की देवता वरुण है, घ्राणेन्द्रिय की देवता दोनों अश्विनी कुमार है, वागिन्द्रिय की देवता अग्नि है, पाणीन्द्रिय की देवता इन्द्र है, पादेन्द्रिय की देवता उपेन्द्र है ॥ १०६ ॥ गुदेन्द्रिय की देवता मृत्यु है, उपस्थेन्द्रिय की देवता शिव है । रसना और उपस्थादिक में द्विविध शक्ति निहित रहने से उनके प्रत्येक के दो-दो देवता हैं । रसना, वरुण और अग्नि की पीठरूपिणी है ॥ १०७ - १०८ ॥

हे महर्षियों ! उपस्थ और योनि में शिव, वायु और प्रजापति का पीठ विद्यमान है, इसी कारण सृष्टि कार्य में लिंग और योनि की ही प्रधानता है ॥ १०९ - ११० ॥ मन की देवता चंद्रमा, बुद्धि की देवता चतुर्वक्र, अहंकार की देवता रुद्र और चित्त की देवता क्षेत्रज्ञ है ॥ १११ ॥ हे विज्ञो ! यहाँ मैं अंतःकरण के विषय में कुछ उपनिषद् का ज्ञान आप से कहता हूँ, दत्तचित्त होकर सुनो ॥ ११२ ॥ मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इन चारों को अंतःकरण समझना चाहिये ॥ ११३ ॥ केवल ब्रह्मा ही इस अंतःकरणचतुष्टय के अधिदैव हैं और इसी कारण वे संसार में चतुर्वक्र कहे जाते हैं । यहाँ चारों में बुद्धि का प्राधान्य ही कारण जानो ॥ ११४ - ११५ ॥ मायारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म को, विज्ञलोग ईश्वर कहते हैं और अविद्यारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म जीव कहा जाता है ॥ ११६ ॥ हे ब्राह्मणों ! वेद में वर्णित इन अविद्या और माया में, आकाश-पाताल के समान सदा भेद प्रतीत होता है ॥ ११७ ॥ उन दोनों का पार्थक्य-संबंधी विज्ञान यहाँ आप लोगों से कहता हूँ । अविद्या जीवों को सदा अपने अधीन करती हुई अपने में उनको बांधकर फंसा लेती है किंतु, महामाया, विद्यास्वरूपिणी होकर सर्वदा ईश्वर के अधीन रहती हुई और उनकी ही सेवा करती हुई, जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय करती रहती है, इसीलिए इन दोनों में बड़ा अंतर है ॥ ११८ - १२० ॥ "मेरा शरीर है, मेरे प्राण हैं, मेरा मन है, मेरी बुद्धि है, और मेरा ज्ञान है" इस प्रकार से पृथक् पृथक् रूपों से पांचों कोशों की प्रतीति होती है ॥ १२१ ॥ हे विप्रो ! "हमारे", इस प्रकार जाने हुए अलंकार और घर आदि, अपने से जिस प्रकार भिन्न होते हैं वैसे ही पंचकोश, "हमारे हैं" इस प्रकार जानने के कारण, वे आत्मा कभी नहीं हो सकते हैं । अर्थात् पंचकोश आत्मा नहीं हैं, किंतु पंचकोषों के जाननेवाले निश्चय ही आत्मा हैं ॥ १२२ - १२३ ॥ इसी रीति से ही हे विप्रो, स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर, कारण-शरीर, जग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति, पूर्वोक्त चौबीस तत्त्व, जीव और ईश्वर, ये कभी आत्मा नहीं हो सकते हैं ॥ १२४ - १२५ ॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञान की सहायता से, आप लोग नेति-नेति विचारद्वारा, सब स्थूल को छोड़ते हुए, सूक्ष्म अन्वेषण में तत्पर और निरासक्त होकर, सर्वदा तत्त्वातीत पद में स्थित होकर, मेरे दर्शन को प्राप्त कर सकोगे ॥ १२६ - १२७ ॥ मैं पंचकोषों से परे और सब तत्त्वों से अतीत सच्चिदानंद स्वरूप हूँ, यह निश्चय करके जानना ॥ १२८ ॥

॥ इस प्रकार श्री धीशगीतोपनिषद् में ब्रह्मविद्यासंबंधी योग शास्त्र का धीशर्षिसंवादात्मक् वेदांतनिरूपण नाम का पंचम अध्याय समाप्त हुआ ॥।

## ६. वेदांतनिरूपण

गणपति बोले ॥ १ ॥ हे ब्राह्मणों ! मेरी प्रकृति से ही उत्पन्न ब्रह्म का स्वरूप मैंने वर्णन किया है और आप लोगों ने सुना भी है ॥ २ ॥ चतुर्विंशति तत्त्वों से ही ब्रह्मांडपिंडात्मक ये सब चराचर दृश्यमान है ॥ ३ ॥ और हे महर्षिगण ! पंचकोष सर्व व्याप्त होकर मेरे स्वरूप को निःसंदेह ढके हुए हैं ॥ ४ ॥ परंतु तत्त्वज्ञानी सब पिंडों में पंचकोष का समन्वय जानकर सब स्थानों में मेरी शक्ति की अद्वैतता अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥ हे विज्ञो ! मेरी प्रकृति ही माया नाम से अभिहित होती है । हे विप्रो ! यही त्रिगुणात्मिका प्रकृति सदा परिणामिनी होती हुई दृश्य जगत्समूह पिंडों की सृष्टि, स्थिति और लय करती रहती है । हे विप्रवरो ! सृष्टि करते समय उस प्रकृति से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है इसमें संदेह नहीं ॥ ६ - ८ ॥ और इन पांच तत्त्वों में से आकाश के ही सात्त्विक अंश से श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ वायु के सात्त्विक अंश से त्वगिन्द्रिय, अग्नि के सात्त्विक अंश से चक्षुरिन्द्रिय, जल के सात्त्विक अंश से रसनेन्द्रिय निःसंदेह उत्पन्न होता है ॥ १० ॥ हे ब्राह्मणों ! पृथ्वी के सात्त्विक अंश से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होता है । इन पांचों तत्त्वों के समष्टि (मिले हुए) सात्त्विक-अंश से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार उत्पन्न होते हैं । हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! सकल्प-विकल्प करनेवाला मन है, अहंकार करनेवाला अहंकार है, निश्चय करनेवाली बुद्धि है, स्मरण करनेवाला चित्त है क्योंकि यह सब संस्कारों का आकर है ॥ ११ - १३ ॥

इन्हीं पांचों तत्त्वों में से आकाश के राजस अंश से पादेन्द्रिय, जल के राजस अंश से उपस्थेन्द्रिय और पृथिवी के राजस अंश से गुदेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं । इन पंच-तत्त्वों के समष्टि-राजस-अंश से प्राणादि पांच वायु उत्पन्न होते हैं । उपवायु, नाग, कूर्म्म, कुकर, देवदत्त और धनंजय उक्त पांच वायुओं के अंतर्गत ही हैं । इन पांचों तत्त्वों के समष्टि-तामस-अंश से पंचीकृत पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं । हे ब्राह्मणों ! सूक्ष्मरज्य स्थूल इन्द्रियों से सदा अगोचर है ॥ १४ - १९ ॥ क्योंकि स्थूल जगत् पंचीकृत पंचमहाभूत से उत्पन्न है । हे ब्राह्मणों ! सूक्ष्म पंच महाभूतों से पंचीकृत स्थूल पंचमहाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं उसका प्रकार मैं कहता हूँ, समाहित होकर सुनो ॥ २० - २१ ॥ हे विज्ञब्राह्मणोत्तमो ! इन पांचों महाभूतों के तामसांश-स्वरूप एक एक भूत के दो दो भाग करके और एक एक भाग को पृथक् रखकर दूसरे दूसरे भाग के चार चार भाग करके पृथक् रक्खे हुए भागों में एक एक भाग प्रत्येक भूत का संयुक्त करने से निश्चय पंचीकरण होता है । यह पंचीकरण विधि अत्यंत अद्भुत है ॥ २२ - २५ ॥

प्रत्येक भूत के अपने आधे में प्रत्येक दूसरे भूतों के आधे भाग का चतुर्थांश मिला हुआ रहता है इसमें संदेह नहीं ॥ २६ ॥ हे महर्षियों ! जैसे पंचीकृत आकाश में अपंचीकृत आकाश का आधा भाग और दूसरे प्रत्येक अपंचीकृतभूतों के अर्द्ध भाग का चतुर्थांश, अर्थात् अपर प्रत्येक भूतों का अष्टमांश मिला हुआ है इसमें संदेह नहीं, इसी प्रकार, प्रत्येक भूत में मिश्रण जानना चाहिये ॥ २७ - २८ ॥ इन पंचीकृत पंच महाभूतों से ही प्रत्येक स्थूल ब्रह्मांड निरंतर उत्पन्न होता है इस में संदेह नहीं ॥ २९ ॥ प्रत्येक ब्रह्मांड भी ऊर्ध्वाधोरूप से नानाश्चर्यमय चतुर्दश भुवनों में विभक्त है ॥ ३० ॥ उन प्रत्येक ब्रह्मांडों में उद्भिज्ज, स्वेदज, अंडज और जरायुज ये चार प्रकार के स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥ हे विप्र श्रेष्ठो ! इनके अतिरिक्त दैवी सृष्टि की उत्तम विचित्रता इनसे कुछ विलक्षण ही है ॥ ३२ ॥ शरीरों का अभिमान रखनेवाले जीव और अनंत ब्रह्मांडों के अभिमान रखनेवाले ही ईश्वर हैं ॥ ३३ ॥ हे महर्षिगण ! इस प्रकार से पिंड और ब्रह्मांड की एकता प्रतिपन्न हुई, हे विप्रवरो ! आप लोग इसमें विस्मय न करें ॥ ३४ ॥ हे ब्राह्मणों ! ब्रह्म में ही अविद्या और मायारूप आवरण के द्वारा जीव और ईश्वर का भेद कल्पना किया गया है ॥ ३५ ॥ शरीर का अभिमान रखनेवाला जीव, ब्रह्म का प्रतिबिंब है, वह जीव स्वभाव से ही ईश्वर को अपने से भिन्न समझता है ॥ ३६ ॥ हे विप्रो ! उपाधि के भेद से जीव और ईश्वर में भेददृष्टि जब तक रहती है तब तक जन्म-मरण-प्रवाहरूप यह संसार कभी भी निवृत्त नहीं होता है । इस कारण हे द्विजश्रेष्ठो ! जीव और ईश्वर में भेददृष्टि तत्त्वज्ञ आत्मज्ञानियों को कदापि नहीं करनी चाहिए । हे महर्षियों ! इससे उनका अवश्य मंगल होता है ॥ ३७ - ३९ ॥ हे विज्ञो ! अहंकारवान्-अल्पज्ञजीव और निरहंकार-सर्वज्ञ ईश्वर, इन दो विरुद्ध धर्मों की, "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों के द्वारा, अभेदबुद्धि कैसे हो सकती हैं, ऐसी शंका करो तो सुनो ॥ ४० -४१ ॥

हे विज्ञ विप्रवरो ! "तत्" और "त्वं" इन दोनों पदों के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थरूप दो दो अर्थ होते हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ४२ ॥ अविद्या, उसका कार्य, और कर्तृत्वादि-गुणयुक्त-शरीर का अभिमानी जीव, यही "त्वम्" पद का वाच्यार्थ है ॥ ४३ ॥ हे प्रतिभाशालियों ! अविद्यारूप उपाधि से निर्मुक्त, समाधि-दशा-प्राप्त, अविद्या और उसके कार्य से रहित, चिन्मात्र और शुद्ध चैतन्य ही "त्वम्" पद का लक्ष्यार्थ हैं । अब "तत्" पद का भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ कहता हूँ ॥ ४४ - ४५ ॥ माया और उसका कार्य, एवं सर्वज्ञत्व आदि गुणोंवाला ईश्वर, "तत्" पद का वाच्य-अर्थ है, इसमें संदेह नहीं ॥ ४६ ॥ मायारूप उपाधि से शून्य, शुद्ध चैतन्य, माया और उसके कार्य से रहित, और चिन्मात्र ही "तत्" पद का लक्ष्य-अर्थ है ॥ ४७ ॥ हे विप्रश्रेष्ठों ! इस प्रकार से जीव और ईश्वर में चैतन्यरूप से अभेद होने में कोई बाधा नहीं है ॥ ४८ ॥ हे विप्रो ! उन दोनों की एकता "अहं ब्रह्माऽस्मि" इत्यादि महावाक्यों से भी जानी जाती है इसमें संदेह नहीं ॥ ४९ ॥ हे विज्ञ विप्रवरो । जो सुसाधक "ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव केवल ब्रह्म ही है" ऐसा, शास्त्रोपदेश से, श्रीगुरूपदेश से, और अपने अनुभव से जानता है एवं जिसकी सब प्राणिमात्रों

पर ज्ञान-योग से सर्वथा ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न हुई है, वही मेरा ज्ञानी भक्त, जीवन् मुक्त हैं ॥ ५० - ५२ ॥ इस वेदांत के सिद्धांत का तात्पर्य सुनो । जब अविद्यारूप उपाधिभ्रम दूर हो जाएगा, तो ब्रह्मसत्ता ही लक्ष्यार्थरूप से अवशेष रहेगी । उसी प्रकार जब मायारूप उपाधि का महत्त्व तत्त्वज्ञान के द्वारा ज्ञात होगा, तब भी लक्ष्यार्थरूप ब्रह्म ही अवशेष रह जाएगा । इस प्रकार से तत्त्वज्ञानी-जीवन्-मुक्त-महात्मा, जीव और ईश्वर की अभेद सत्ता अनुभव करके, ब्रह्मानन्द में निमग्न होते हुए कृतकृत्य होते हैं ॥ ५३ - ५६ ॥

इस संसार को जड़जीवगण, विषय के रूप में देखते हैं, और अज्ञानी जीव-गण सुखरूप से देखते हैं ॥ ५७ ॥ ज्ञानवान् विवेकी जन संपूर्ण संसारप्रपंच को परिणामी जानकर, दुःखमय रूप में अनुभव करते हैं ॥ ५८ ॥ परंतु मेरे ज्ञानीभक्त जीवन्-मुक्तगण, इस संसार को कुछ और ही अलौकिक रूप में देखते हैं ॥ ५९ ॥ हे विप्रवरो ! वे मेरी प्रकृति-प्रसूत, सर्वथा अद्भुत, इस संसार को आकाश में गंधर्वनगर के समान बार बार देखकर और उसके स्वरूप को मिथ्या ही जानते हुए भी उस कौतुकप्रदरूप को देख देखकर आनंदित होते हैं ॥ ६० - ६१ ॥ वे इस संसार को मृगमरीचिकावत, (mirage) अनेक भ्रमयुक्त, इन्द्रजालवत, मिथ्या प्रपंचों का मूल और मेरी शक्ति के ही गुणों का परिणाम स्वरूप देखकर, उसमें फंसते नहीं । वे इस प्रपंच में रहकर भी जल में पद्मपत्र के समान उससे अलग ही रहते हैं । श्रेष्ठ ब्राह्मणों को यही सर्वत्र सुखप्रद, हितकर, उच्चपद लक्ष्यरूप होना चाहिये । उनके लिए ये सब संसार परिवार के समान है ॥ ६२ - ६५ ॥ देवता, ऋषि और पितृगण उनके लिए बांधव हैं । उनके लिए इस संसार में गृहणीय भी कुछ नहीं है, और त्याज्य भी कुछ नहीं है ॥ ६६ ॥ वे स्थूल शरीर से माता, पिता, कुल, जाति और समस्त पृथिवी को, और विशेषतः जन्म-भूमि को धन्य करते हैं ॥ ६७ ॥ हे विप्रो ! वे सूक्ष्मशरीर से सूक्ष्म-दैवी जगत् को सब प्रकार से सर्वदा धन्य कहते हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ६८ ॥ और ब्रह्मानंद सुसंदोह के सम्यक् विलास स्वरूप से निःसंदेह मुझे धन्य धन्य करते हैं ॥ ६९ ॥

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् में ब्रह्मविद्यासंबंधी योग-शास्त्र का धीशर्षिसंवादात्मक वेदांत-सिद्धांत निरूपण नाम का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥

## ७. विराड्रूपवर्णन

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥ हे प्रभो ! हे भगवन् ! हे सर्वज्ञ ! हे दयार्णव ! हे विश्वेश ! हे देवादिदेव ! हे जगन्निवास ! हे सब गुरुओं के आदिगुरु ! हे विश्वंभर ! हे विभो ! आपकी अपार कृपा से आज हमारा अंतर्नेत्ररूपी ज्ञाननेत्र, जो श्रेष्ठ निर्मल तृतीय नेत्र है, निश्चय ही खुल गया है ॥ २ ॥ आपकी कृपा के उदय से अब हम देखते हैं कि आप जैसे माला में मणिगण के बीच पिरोया हुआ सूत्र रहता है उसी प्रकार सब पिंडों और सब ब्रह्मांडों में एकरूप से सदा अनुस्यूत रहकर

सबके अस्तित्व और सबके चैतन्य का संपूर्ण विधान निरंतर करते हैं ॥ ३ ॥ पुनः हे अनंत ! जिस प्रकार घर में छिद्ररूपमार्ग से प्रविष्ट सूर्यकिरणों में तैरते हुए अपरिमित अणुसमूहों को हम देखते हैं, उस प्रकार आदि-अंत-रहित महाकाश में अनंत ब्रह्मांड समूह, आपके विराट् देह का आश्रय लेकर तैर रहे हैं और शोभा को निश्चय ही बढ़ा रहे हैं ॥ ४ ॥

हम पुनः देख रहे हैं कि आप का विराट् रूप जहाँ इस समय प्रकाशित हो रहा है उस देश की दिशाओं का न आदि और न अनंत दिखाई देता है । हे महाकाल ! हम पुनः आप के विराट् देह में महाकौतुक देख रहे हैं । आप के उस विराट् रूप में अनंत सूर्य और अनंत ग्रहों-उपग्रहों द्वारा परिव्याप्त, अनंत ब्रह्मांडसमूह आपस के घात-प्रतिघात से परमाणुरूपों में परिणत हो रहे हैं । और हे प्रभो ! कहीं, सब परमाणुपुंज सम्यक् रूप से पुनः घनीभूत होकर नक्षत्रसमूह और सूर्यादि अखिल ग्रहोंपग्रहों से आवृत्त अनेक प्रकार के और अनेक आकृतिवाले ब्रह्मांडरूपों में अनुक्षण परिणत हो रहे हैं । परंतु हे प्रभो ! इन ब्रह्मांडसमूहों की उत्पत्ति और लय का कार्य जिस काल में प्रतिभासित होता है उस काल का किसी प्रकार भी न आदि और न अंत दिखाई पड़ता है ॥ ५ - ७ ॥ आप के वैराट्य से ओतप्रोत उस देश और काल का जब न आदि है और न अंत, तब आप के विराट् स्वरूप और असीम देह का आदि और अंत, निःशेषरूप से कोई देखने में कैसे समर्थ हो सकता है ? और हम जैसे मूर्खों की तो बात ही क्या है ॥ ८ ॥ हे सदा भूतस्रष्टा ! पालक ! भूतहारी विभो ! हम सब यहाँ फिर भी यह देखते हैं कि अनंत ब्रह्मांडसमूह पृथक् पृथक् रूप में आप की प्रकृति से, कर्मस्रोत में, अपने आपही प्रकट होकर अपने आप ही आपकी प्रकृति में सद्यः प्रवेश करके बारबार लय को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥ उसी कर्मस्रोत में अपने आप ही प्रत्येक परमाणु से भूतभावोद्भवकर विसर्ग द्वारा आपको ही प्रकृति से चिज्जडग्रंथिरूपी अनंत पिंड प्रकट होते हैं और दूसरी ओर अपने आपही आपकी प्रकृति में प्रवेश करके लय को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ हे विश्वचक्षु ! हम लोग पुनः देखते हैं कि आप अनंत नेत्र होकर पिंडसमूह और ब्रह्मांडसमूह की गति को निरंतर देखते हो और अपनी धर्मशक्ति के द्वारा क्रमशः उनको अपनी ओर आकर्षित करते जाते हो । इस प्रकार के सब चमत्कारों को देखकर हमारी बुद्धि चकित हो रही है ॥ ११ ॥ हे विश्वचेता ! उसी प्रकार हम यह भी देखते हैं, कि आप अनंतकर्ण होकर सब अनंत ब्रह्मांड और अनंत पिंडों की प्रार्थना निरंतर श्रवण करते है और चितिशक्ति द्वारा क्रमशः उत्तरोत्तर चेतनायुक्त करते हुए उनको आप अपना सान्निध्य देते हुए विराजमान हैं ॥ १२ ॥ हे रसमय ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनंत रसनायुक्त होकर ब्रह्माण्डसमूह और अनंत पिंडसमूह में बुद्धिरूप से सुहृद्भाव में रहकर सब प्राणियों को अपने कृपाकण से विवेकपूर्वक परमानंदमय अध्यात्मपद दिखा देते हो ॥ १३ ॥ हे सकल तेजों के खनिरूप तेजोमय ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनंत स्पर्शेन्द्रियसमूह से युक्त होकर अगणित और अनंत ब्रह्मांडों और पिंडसमूहों को अपने तेजों के द्वारा स्पर्श करके सबको अपनी ओर निरंतर खींचकर उनका पतन होने नहीं

देते ॥ १४ ॥

हे विश्वाधार ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनंत नासिकायुक्त होकर ब्रह्मांड और पिंडसमूह के पुण्यपुंज का शुभ आघ्राण ग्रहण करके उनके अस्तित्व को अपने में ही विलीन करने के लिए उनको उनके यथायोग्य अधिकार के अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयस निरंतर प्रदान करते रहते हो ॥ १५ ॥ हे त्रिगुणातीत ! हे सदा भावातीत ! हे विभो ! हे प्रभो ! अनुक्षण इससे पूर्व जब हम दर्शनेन्द्रियों को तृप्त करने वाले आपके निर्मल और सर्व-मनोहर गुणमय और भावमय अलौकिक रूप के दर्शन करते थे तब हमारा मन शीघ्र लयावस्था को प्राप्त हो गया था ॥ १६ ॥ अब तो आपके इस विशाल विराड्रूप का दर्शन करके हम लोगों की बुद्धि भी चकित और थकित होकर लयावस्था को प्राप्त हो रही है । अब कृपा करके आप ऐसे अपने रूप में हमें दर्शन देवें कि जिस के अवलम्बन से हम हर समय आपके सान्निध्य को भी प्राप्त कर सकें ॥ १७ ॥ हे सर्वेश्वर ! हे भक्तवांछा कल्पतरु ! हे प्रभो ! हे पालक ! आप रूपरहित और विभु होने पर भी अपने भक्तों के कल्याण के लिए उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति जनित प्रार्थना को स्वीकार करके ही नाना सगुणरूप धारण करके उनका कल्याण साधन करते हैं ॥ १८ ॥ हे सवितः आप ही सूर्य-रूप धारण करके तेज द्वारा भक्तों को कैवल्य भूमि में निरंतर आकर्षित करते हैं । हे नारायण ! आप विष्णु-रूप धारण करके चिद्भाव द्वारा उनकी क्रमोन्नति का पर्यवेक्षण करके उनको ब्रह्मसद्भाव प्राप्त कराते हो ॥ १३ ॥ हे शक्तिमन् ! आप ही देवीरूप धारण करके धर्मशक्ति द्वारा सबके नियामक परमपद में सदा उनको पहुँचा देते हैं । हे शम्भो ! आप ही शिवरूप धारण करके सद्भाव द्वारा सबके अस्तित्वविधानकारी निर्भय निःश्रेयस पद में अपने भक्तों को अवश्य पहुँचा देते हैं ॥ २० ॥ और हे सिद्धिपते ! आप ही गणपति का स्वरूप धारण करके बुद्धि द्वारा भक्तों को स्वरूप दिखाकर निरंतर परममुक्तिपद प्रदान करते हैं । हे गुरो ! इस संसार में आपही सब गुरुओं के आदिगुरु हैं क्योंकि आप सकल देशकाल से निरंतर अपरिच्छिन्न और सर्वादिगुरु होकर ज्ञानस्वरूप में सदा विराजमान रहते हैं और सब ब्रह्मांडों में हम ऋषिगण आपके ही ज्ञानसागर की विप्रुड्कणिका को (अर्थात् छिड़के हुए छींटों को) लेकर बनें ज्ञान-स्रोतों को, इस विश्व में प्रवाहित करते हैं । इसमें विद्वान् ब्राह्मणगण स्नान करके ही मुक्ति को प्राप्त हुए हैं ॥ २१ - २२ ॥

हे देवनायक विभो ! सृष्टि, स्थिति और प्रलय कारिणी विश्वव्यापक कर्म की धारा आपसे उत्पन्न होकर आप में ही विलीन होती है और सब देवतागण सदा आपके ही अंगरूप होकर प्रत्येक ब्रह्मांड में प्रसन्नता से कर्म की व्यवस्था अहर्निश करते हुए सृष्टि, स्थिति और लय की व्यवस्था का सामंजस्य विधान करते हैं । हे प्रजापते ! उद्भिज्ज, स्वदेज, अंडज और जरायुजसमूह रूपी जो चतुर्विधभूतसंघ हैं वे सब, और जो दैवी, मानवी और आसुरीरूपी त्रिविध-लोक-सृष्टियां हैं वे सब, महासमुद्र में बुद्बुद्वत्, आपसे ही यहाँ उत्पन्न होकर आप में ही लय को प्राप्त होते हैं । पितृगण आपसे ही अतुल शक्ति को लेकर मनुष्य की क्रमोन्नति-विधान करके चतुर्विध-

भूतसंघ और लोकसमूह की व्यवस्था में भलीभांति सहायता करते हैं ॥ २६ - २५ ॥ हे धीश ! यद्यपि चतुर्विंशति तत्त्व से भी अतीत-विभव आप ही हो तथापि अंतिम-तत्त्व-आप, बुद्धि में ज्ञानशक्तिरूप से अधिकारी, अनिर्वचनीय और नित्य-स्थित रहकर जीवमात्र को अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग प्रदर्शित कराते हो ॥ २६ ॥ स्वाधीनता के मद से विमोहित जो मूढ जीव प्रमादवश, ज्ञाननिधि-आप के इंगित कीए मार्ग की नित्य अवहेलना करते हैं वे अवश्य कल्याणकारी अभ्युदय के मार्ग से च्युत होकर ही दुःखदायी जन्ममृत्युओं के गहन संसारचक्र में अतिशय घूर्णायमान होकर दुःख भोगते रहते हैं ॥ २७ ॥ हे दयासागर ! हे सिद्धि देवी से अलंकृत वामपार्श्व भगवन् गणपते ! आप का ही जो इस संसार में जगत्पूज्य भर्ग (अर्थात् तेज) है, वह हमारी बुद्धि को अपनी शक्ति के द्वारा असत्-कर्मसमूह से बचाकर सत्कर्म में शीघ्र प्रेरणा करे । आप को हम अनन्यभाव से प्रणाम करते हैं ॥ २८ ॥ व्यासदेव बोले ॥ २९ ॥ इतना कहकर वे ऋषिगण कुछ देर तक आनंदाश्रुयुक्तमुख, गद्-गद्कण्ठ-स्वर, रोमांचित और निःस्तब्ध होकर रहे । तदनंतर भगवान् गणपतिजी ने स्मितकर (अर्थात् मुस्कराकर) मधुर स्वर से कहा ॥ ३० ॥ गणपति बोले ॥ ३१ ॥

हे भक्त द्विजगण ! योग-युक्त अवस्था में मेरा सगुणरूप, आत्मयुक्त अवस्था में मेरा महद्द्भुत विराट्रूप और कर्म युक्त अवस्था में मेरा विभूतिमयरूप मेरी उपासना में सहायक होता है । यही श्रुति हैं ॥ ३२ - ३३ ॥ जीव प्राकृत और स्वाधीनरूप से दो प्रकार का कहा गया है । प्राकृत जीवों में मैं हस्ती हूँ, और स्वाधीन जीवों में मैं मनुष्य हूँ ॥ ३४ ॥ इसी कारण हस्ती के सदृश मुख और मनुष्य के सदृश शरीर होकर मैं भक्तों को निरंतर प्रकट होकर अपना दर्शन देता हूँ । मैं योग में राजयोग हूँ परंतु हे द्विजश्रेष्ठों ! ऐसा होकर भी मैं चतुर्विध ध्यानों में से पंचोपासना के पाँच ध्यान-यूक्त स्थूल ध्यान ही हूँ इसमें कुछ संदेह नहीं है । मैं आप लोगों से सत्य कहता हूँ ॥ ३६ - ३७ ॥ नरों में मैं राजा हूँ परंतु राज्य में मैं मंत्री-रूप हूँ क्योंकि मंत्रि-मंडल ज्ञान सहायक है ॥ ३८ ॥ शक्तियों में मैं दैवी शक्ति हूँ परंतु ऐसा होकर भी हे महर्षियों ! मैं लौकिक शक्तियों में संघ-शक्ति हूँ क्योंकि संघ-शक्ति में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों शक्तियों का विकास अपने-आप ही हो जाता है ॥ ४० ॥ मैं वर्णों में ब्राह्मण हूँ और आश्रमों में सन्यासाश्रम हूँ । हे ब्राह्मणों ! वृद्धत्व-रूप से पूजनीय सब प्रकार के वृद्धों में मैं सर्वथा ज्ञानवृद्ध ही हूँ, इसमें कुछ विचार न करो और मनुष्यश्रेणी में मैं अध्यात्म लक्ष्य-युक्त आर्य हूँ ॥ ४१ - ४२ ॥ भक्तगणों में मैं ज्ञानीभक्त हूँ । वेदों के बीच मैं सामवेद हूँ किंतु वेदविभागों में मैं उपनिषद्रूप हूँ ॥ ४३ ॥

योग के अंगों में मैं प्रत्याहार हूँ परंतु सब समाधियों में मैं निर्विकल्प समाधि हूँ ॥ ४४ ॥ हे ब्राह्मणों ! मंत्रयोग में मैं मंत्र हूँ, हठयोग में मैं प्राणायाम हूँ, लययोग में मैं लयक्रिया हूँ और राजयोग में मैं विवेचन हूँ ॥ ४५ ॥ हे ब्राह्मणों ! दानधर्म में मैं ब्रह्मदान हूँ, तपधर्म में मैं यम

(अर्थात् अष्टांग-योग का प्रथम चरण : यम, नियम, आसन इत्यादि) हूँ, कर्मयोग में मैं ज्ञानप्रकाश होने से नित्य कर्म ही हूँ इसमें कोई विवेचना नहीं है । हे विज्ञ ब्राह्मण-श्रेष्ठों । उपासना यज्ञों में मैं पराभक्तियुक्त ब्रह्मोपासना हूँ, ज्ञानयज्ञ में मैं मनन हूँ और हे विप्रो ! महायज्ञों में मैं सर्व-यज्ञ-शिरोमणि ब्रह्मयज्ञ हूँ । सभा के बीच में मै वक्ता हूँ और शिक्षकों के बीच में मैं आचार्य हूँ ॥ ४६ - ४९ ॥ उपदेशकों के बीच में मैं जगत्-पूज्य गुरु हूँ । हे विप्रो ! भूतगणों के अंतर में अवस्थित मैं आत्मा हूँ ॥ ५० ॥ सर्व प्राणियों में मैं ही निःसंदेह चेतना रूप हूँ । मैं ही शब्दसमूह में नाद और वाक्यसमूह में ओंकार हूँ ॥ ५१ ॥

मैं देवताओं में इन्द्र, महर्षियों में भृगु, पितरों में अर्यमा और नियामकों में यम हूँ ॥ ५२ ॥ असुरों में मुझको बलि जानो । मैं सरिताओं में जाह्नवी और सब जलाशयों में निःसंदेह सागर हूँ ॥ ५३ ॥ हे महर्षिगण, आनंदप्रद पदार्थों में मैं पुष्प हूँ । हे विप्रो ! तेजस्वियों में मैं परम पवित्र तेजरूप हूँ ॥ ५४ ॥ बलवानों में मैं काम-राग-विवर्जित बल हूँ और उत्पत्ति के लिए प्राणियों में मैं धर्म-अविरुद्ध काम हूँ ॥ ५५ ॥ हे विद्वान् विप्रवरो ! मैं विद्यासमूहों में अध्यात्मविद्या हूँ और वादिगण में मैं सत्यप्रकाश वाद हूँ ॥ ५६ ॥ स्त्रियों में मैं तपोरूप हूँ और पुरुषों में यज्ञरूप हूँ । हे विप्रो ! मैं त्रिगुण में सत्त्वगुण हूँ ॥ ५७ ॥ त्रिभावों में मैं अध्यात्मभाव हूँ । मैं शील में विनय और सदाचारो में वृद्धों के चरणकमलों में प्रणामरूप हूँ ॥ ५८ ॥ हे महाविज्ञ ब्राह्मणों ! मैं कारणब्रह्मरूप से एक अद्वितीय होकर भी अनंत हूँ यह सत्य है इसमें संदेह नहीं ॥ ५९ ॥ कार्यब्रह्मरूप से संख्या में अनंत होने के कारण मेरी विभूतियों की कोई भी संख्या नही कर सक्ता ॥ ६० ॥ केवल आप विप्रवरों के कल्याणार्थ ही दिग्दर्शनरूप से आप लोगों से यह कुछ वर्णन किया है ॥ ६१ ॥ आप मेरे हृदयग्राही उपदेश को अपने हृदय में निरंतर रखकर मेरी उपासना में रत होकर उत्तम मोक्षपद को प्राप्त हों ॥ ६२ ॥ हे विप्रो ! मेरी प्रकृति पर आपकी सात्त्विक श्रद्धा चिरकाल तक बनी रहे । मेरी प्रकृति ही स्त्रीभाव को धारण करके कामदा, भगिनीभाव को धारण करके अर्थ और सिद्धिप्रदा और मातृभाव धारण करके सदा धर्म और शक्तिप्रदा होकर मेरे ज्ञानी-भक्तों को सब ओर से प्रकृतिस्थ करती हुई उनको सुदुर्लभ मुक्तिपद प्रदान करती है ॥ ६३ - ६५ ॥ मेरी शक्ति पर श्रद्धान्वित भक्तों को चतुर्वर्ग सुलभ हो जाता है हे विप्रवरो ! इसमें संदेह नहीं है ॥ ६६ ॥ यह मैंने अति गोपनीय उपनिषद् आप लोगों को सुनाया है । आप इसको धीशगीता नाम से प्रचारित करो ॥ ६७ ॥ जिससे मेरे सर्व भक्त चतुर्वर्ग प्राप्त करें । हे विप्रवरो ! अभक्त, नास्तिक, श्रद्धाहीन, गुरु-विरोधी, कृतघ्न और पापात्मा व्यक्तियों को इसको कदापि नहीं देना ॥ ६८ - ६९ ॥ गुरु और शास्त्रों में जिनकी श्रद्धा है, परम्-लोकपर जिनका विश्वास है, जिनका लक्ष्य आध्यात्मिक है और जिनमें पवित्र मत्परायणता निरंतर है, उनको यह धीगगीता अवश्य देनी चाहिये ॥ ७० - ७१ ॥ इस पवित्र धीशगीता का जो अध्ययन और अध्यापन करते हैं, क्लेश कर्मविपाक और आशय से रहित होकर वे मेरे सब भक्त मत्सायुज्य को अवश्य प्राप्त होते

हैं । उनको इस संसार में किसी प्रकार भी कोई ताप बाधा नहीं देता है ॥ ७२ - ७३ ॥ श्रद्धा के साथ इस कल्याण-कारिणी गीता का जो पाठ करते हैं, अथवा जो इसके द्वारा केवल पाठात्मक वा हवनात्मक गणपति-याग का अनुष्ठान करते हैं, मेरे उन भक्तों की सब आधि और व्याधियाँ नष्ट हो जाती है ॥ ७४ - ७५ ॥ हे द्विजों ! जो सदा भक्तिभाव से संयत और तप-परायण होकर भलीभांति इसका सार्थक पाठश्रवण अथवा इसके द्वारा गणपतियाग का अनुष्ठान करते हैं, उन जीवों की ऐसे कोई बाधाएँ, विपत्तीयाँ या विघ्नसमूह नहीं हैं, जो शीघ्रही दूर न हो सकें, हे विप्रवरो ! इसमें कुछ संदेह नहीं है ॥ ७६ ७८ ॥

मेरे आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी तीनों ही प्रकार के भक्त इस गीता के आश्रय से निःसंदेह ही सफलमनोरथ होंगे और उसी प्रकार मेरे ज्ञानीभक्त भी इस गीता के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा अपरोक्षानुभूति से मेरे दर्शन करने में अवश्य समर्थ होंगे ॥ ७९ - ८१ ॥ चारों वर्ण और चारों आश्रमों के स्वधर्मानुरत जीवों की तो बात ही क्या है । मुझमें अटल श्रद्धा रखनेवाले जीवमात्र को ही यह धीशगीता चतुर्वर्गफलप्रद है । यह सत्य है, इसमें संदेह नहीं ॥ ८२ - ८३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासंबंधी धोशर्षिसंवादात्मक योग शास्त्र का विराड्रूप निरूपण नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ॥

। यह श्रीधीशगीता समाप्त हुई ।

Proofread by Paresh Panditrao

*Shri Dhishagita Bhashanuvada Hindi Translation*
pdf was typeset on December 3, 2022

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*